TDIMA				*	*	
GIPTNY		*			*	
EEOPSX		*				

isk (*) to form the answer to the riddle or to fill in the missing words as indicated

_____ is the dizziness of freedom - Soren Kierkegaard (7)

olution: Words: Lease, admit, typing, expose

nswer: **Anxiety** is the dizziness of freedom - Soren Kierkegaard

ONS SUDOKU

7	4	9	6	2	1	3	8	
2	6	1	5	8	7	9	4	
9	8	4	3	7	6	5	2	
4	5	3	8	9	2	1	7	
3	7	6	1	5	8	4	9	
8	1	7	2	4	3	6	5	
5	3	2	9	1	4	7	6	
1	2	5	7	6	9	8	3	
6	9	8	4	3	5	2	1	

htcitymathdoku

2–	14+			48×
	6×			
			2÷	6+
300×				
4÷			1–	

Place numbers into the puzzle cells in such a way that each row and column contains each of the digits from 1 up to the size of the puzzle (5). Like a Sudoku puzzle, no number is repeated in any row or column. Each bold-outlined group of cells contains a hint consisting of a number and one of the mathematical symbols + x - /. The number is the result of applying the mathematical operation represented by the symbol to the digits contained within the domain. The solution to each puzzle is arrived at logically and is unique.

SOLUTION MATHDOKU

3	2	1	5	4
5	1	2	4	3
2	3	4	1	5
4	5	3	2	1
1	4	5	3	2

NANDHOBBES

BILL WATTERSON

12.30 Adhikar...Ek Kasam Ek Tapasya
13.00 Humnawaaz
13.30 Ummid Ki Nayi Subah
14.00 Pragati
14.30 Ek Laqshya
15.00 40 Plus
15.30 Zindagi Ek Bhanwar
18.30 Rajdhani Samachar
19.00 Zindagi... Ek Bhanwar
19.30 Khwabon Ke Darmiyan
20.00 40 Plus
20.30 Pavitra Bandhan... Do Dilon Ka
21.00 Dil Ko- Aaj Phir Jine Ki Tammanna Hai
21.30 Dard Ka Rishta
22.00 Beti Ka Farz
22.30 Paltan
23.00 Bioscope Film "Baradari" (Pt-II)

DD BHARATI

18.00 A Journey of Thoughts
19.00 Dolma
19.30 Sanskriti Bharati
20.00 Boond Aur Samunder
20.30 Travelogue
21.00 Classical Music
22.00 Documentary
22.30 Kahaan Se Kahaan Tak Sheesha
23.00 Muzaffar Ali

12.30 Surat Ya Seerat
15.00 Khabrein
17.30 Kitabon Ki Duniya
18.30 Yeh Sab Hai Meeras Hamari
20.00 Surat Ya Seerat
20.30 Shahkar Afsane
21.00 Imroz
21.30 National Cureent Affair
22.00 Kutubkhana
22.30 Ye Ishq Nahi Aasan

and always will be. Be my lady luck I need you.
-DD

Meet, Babuuu I love you allloottt jaan ... I know these days m reactng in a very strange way .. Bit frustratd with myself. M just tryng to fix everythng Meet.. plzz understand..n be wid me...u r my lifee...cnt evn thnk of spending my life without u...love uuu alottt jaan.. -Mann

NoNo, On our wedding anniversary, all I can remember is the promise that you made me an year ago which was to spend the rest of your life with me, and the promise still remains strong.
You have cared for me and stood besides me in toughest of all situations. Lucky to have a cute, caring wife like you.
Love you NoNo. Happy Anniversary.
-Bharat

Mail us at dilsehtcity13@gmail.com

TAURUS
(APR 21 - MAY 20)
You may have to pick up from where you left in a ...ily situation. Stand taken by you ...be appreciated. You must get into ...iving mode now. If you keep ...priorities right on the academic ...you will not go wrong. Your

GEMINI
(MAY 21 - JUN 21)
You will need to keep your moodiness in check today or you may end up upsetting partner. Maintain contact with those who can help you out on the academic front. Your indecisiveness over an issue may make you miss the bus. Giving

CANCER
(JUNE 22 - JULY 22)
'As you sow, so shall you reap' is a dictum that is turning real for you at every step; make amends if you can. Your laid back attitude at work may attract reprimand, so pull up your socks. Steer clear of a scheming person. Your grand

LEO
(JULY 23 - AUG 23)
There is not much sense in siding with an unpopular person, as you yourself may come under fire. Using a different approach at work will help appease a senior you are trying to impress. Your love life is set to improve. Take steps now to

VIRGO
(AUG 24 - SEPT 23)
You may get motivated to take special care of someone close, who needs it at this juncture. It is best not to overspend on any non-essential items, as you may need the money at a later date. Anxiety can get the better of you regarding

॥ श्रीमदभिनवचन्द्रेश्वरो विजयतेतराम् ॥

श्रीकैलासविद्यालोकस्य षष्ठीतमः (६०) सोपानः

श्रीभारतीतीर्थमुनिविरचिता

॥ वैयासिकन्यायमाला ॥

(ललिता संस्करणम्)

ललिता व्याख्याकार :

वेदान्तसर्वदर्शनाचार्यः श्रीकैलासदशमपीठाधीश्वरः

परमादर्शाचार्यमहामण्डलेश्वरः

श्रीमत्स्वामीविद्यानन्दगिरिजीमहाराजः

विद्वत्सम्पादकमण्डलेन सम्पादितम्

प्रकाशक :

श्रीकैलासविद्याप्रकाशनम्, हृषीकेशः (उ०प्र०)

देवानुग्रहत्रिदशकमहोत्सवप्रसङ्गे प्रकाशितम् ।

प्रथम संस्करणम्	विजयादशमी	वि० सं० २०५५	मूल्यम्
२०००	शाङ्कराब्दः १२११	सन् १९९८	१०० रूप्यकाणि

ISBN-81-9000625-4-7

ग्रन्थ प्राप्तिस्थानानिः | दूरभाष :

- ✻ श्री कैलास आश्रमः, कैलास गेट, हृषीकेशः—२४९२०१ (०१३५)-४३०५९८
- ✻ श्री ब्रह्मानन्द आश्रमः, मुनि की रेती, हृषीकेशः-२४९२०१
- ✻ श्री दशनाम सन्यास आश्रमः भूपतवाला, हरिद्वारः-२४९४०१ (०१३३)-४२७२०६
- ✻ श्री कैलासाश्रमः, उजेली, उत्तरकाशी-२४९१९३ (०१३७४)-२३६१
- ✻ श्री कैलास धामः, कैलास धाम मार्गः, नई झूसी, इलाहाबाद-२२१५०६
- ✻ श्री कैलास विद्या तीर्थः, ६-भाई वीरसिंह मार्गः, नई दिल्ली-११०००१ (०११)-३३४७४७५
- ✻ श्री कैलासाश्रमः, कैलासाश्रम मार्गः, मॉडल टाउन, रोहतक-१२४००१
- ✻ श्री कैलास विद्यातीर्थः, गिरियक मार्गः, राजगिर, जि० नालन्दा—८०३११६
- ✻ श्री रामाश्रमः, समाना मण्डी, पटियाला-१४७१०१ (०१७६४)-२०४५०
- ✻ श्री नर्मदा सत्सङ्ग आश्रम, भिलाड़ियाघाट, शिवपुर, होशंगाबाद (म० प्र०)
- ✻ श्री कैलास विद्या धामः, सेक्टर-५, रूपनगर, जम्मूतवी-१८००११ (०१९१)-४३३३४९
- ✻ श्री शङ्कर ब्रह्मविद्या कुटीर, ८३-ए, मुजफ्फर नगर-२५१००१

मुद्रक ।

श्री कैलास विद्या प्रेस, ब्रह्मानन्दाश्रमः

मुनिकीरेती, हृषीकेशः ।

Sri Kailas Vidya Prakashana Series—60

Sri Bharati Tirtha Muni's

VAIYASIKANYAYAMALA

LALITA EDITION

* * *

Lalita Hindi Commentary

by

Vedanta Sarvadarshanacharya

Sri Kailas Peethadheeswara Paramadarshacharya

Mahamandaleshwara

Srimatswami Vidyananda Giriji Maharaj

Edited By

Editorial Panel of Sri Kailas Ashram

Swm. Shuddhasattwananda

Published by:
SRI KAILAS VIDYA PRAKASHANAM
Rishikesh, U.P.

In Commemoration of
DEVANUGRAHATRIDASHAKA MAHOTSAVA

First: Impression		Vikram Samvatsar	Price
	Vijayadasami Shankrabda	2055	
2000	1211	A.D.-1998	100.00 Rs. only.

ISBN-81-9000625-4-7

The Books are available in India at:

Telephone No.

- ★ Shri Kailas Ashram, Rishikesh-249 201 — 0135/430598
- ★ Shri Brahmananda Ashram, Rishikesh-249 201
- ★ Sri Kailas Ashram, Ujeli, Uttarkashi-249 193 — 01374/2361
- ★ Shri Dashnam Sannyas Ashram, Bhupatwala, Haridwar-249 401 — 0133/427206
- ★ Sri Ram Ashram, Samana Mandi, Distt. Patiyala, (Punjab)-147 101 — 01764/20450
- ★ Shri Kailas Ashram, Model Town, Rohtak (Hariyana)—124 001
- ★ Shri Kailas Dham, Nai Jhusi, Allahabad-221 506
- ★ Shri Kailas Vidya Tirtha (Adi Shankaracharya Smaraka) 6, Bhai Vir singh Marg, New Delhi-110001 — 011/3347475
- ★ Shri Kailas Vidya Tirtha, Rajgir, Distt. Nalanda, (Bihar).
- ★ Shri Narmada Satsang Ashram, Bhiladiya Ghat, Distt. Hoshangabad—461225
- ★ Shri Kailas Vidya Dham, Roopnagar, Sector-5, Jammu Tawi—180001
- ★ Shri Shankara Brahma Vidya Kutir, 83-A, Dwarakapuri Muzaffar Nagar—251001. — 0191/433349

Printed At - Sri Kailas Vidya Press, Muni-Ki-Reti, Rishikesh-249 201

ॐ

प्राक्कथन

सनातन धर्म का मूल ग्रन्थ 'वेद' है । चतुर्वेदभाष्यकार सायणाचार्य ने ऐतरेय ब्राह्मण के भाष्य की रचना के अवसर पर यह सूचित किया है कि 'इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः'। वस्तुतस्तु अनादि ज्ञानराशि ही वेद है । प्रत्येक सृष्टि के पूर्व की सृष्टि में वेद जिस क्रम से अवस्थित था, आनुपूर्वी उसी क्रम से सृष्टि के प्रारम्भ में परमेश्वर के द्वारा प्रकट होता है । अतः परमेश्वर को वेद का रचयिता नहीं कहा जा सकता । इसी कारण से वेद को अनादि और अपौरुषेय कहा जाता है । भगवान् वेद व्यास जी के शिष्य महर्षि जैमिनि ने कर्मप्रतिपादक वेद भाग (कर्मकाण्ड) के अर्थ के विचार के लिए जिस सूत्रात्मक ग्रन्थ की रचना की है उसका नाम है—पूर्वमीमांसा दर्शन और वेद विभाग के कर्ता महर्षि कृष्ण द्वैपायन भगवान् वेदव्यास जी ने स्वयं उपनिषदों (ज्ञानकाण्ड) के अर्थ के विचार के लिए और वेदविरुद्ध मतों के निराकरण के लिए जिस सूत्रात्मक ग्रन्थ की रचना की है उसका नाम है—उत्तरमीमांसा दर्शन । 'पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः' (पा० अ० ४-३-११०) के अनुसार वेदव्यासरचित सूत्र ग्रन्थ का एक नाम भिक्षु सूत्र भी है । इस वेदान्त दर्शन का अवलम्बन करके भिन्न-भिन्न मतावलम्बियों ने अपने मत की पुष्टि की है। इस ब्रह्मसूत्र के ऊपर जगद्गुरु भगवान् आद्य शङ्कराचार्य जी ने अमूल्य भाष्य की रचना की है। ब्रह्मसूत्र के अन्य भाष्यों की अपेक्षा शाङ्करभाष्य इसलिए सर्वोत्कृष्ट है क्योंकि शाङ्करभाष्य में वर्णित सूत्रार्थ सम्प्रदाय परम्पराक्रम से प्राप्त है, यथा—

नारायणं पद्मभवं वसिष्ठं शक्तिं च तत्पुत्र पराशरं च ।
व्यासं शुकं गौड़पदं महान्तं गोविन्द योगीन्द्रमथास्य शिष्यम् ।।
श्री शङ्कराचार्यमथास्य पद्मपादं च हस्तामलकं च शिष्यम् ।
तं तोटकं वार्तिककारमन्यानस्मद्गुरून् संततमानतोऽस्मि ।।

भगवान् वेदव्यास को ब्रह्मसूत्र का जो अर्थ विवक्षित था उसको अपने पुत्र एवं शिष्य विरक्त शिरोमणि श्री शुकदेव जी को और श्री शुकदेव जी ने अपने शिष्य श्री गौड़पादाचार्य जी को, गौड़पादाचार्य जी ने अपने शिष्य श्री गोविन्द भगवत्पाद जी को और श्री गोविन्द भगवत्पाद जी ने अपने शिष्य जगद्गुरु आद्य शङ्कराचार्य जी को पढ़ाया । इस ग्रन्थ में समन्वय, विरोधपरिहार, साधन और फलाख्य चार अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं। प्रत्येक अध्याय एवं प्रत्येक पाद में वर्णित विषयवस्तु का अवलोकन सुविज्ञ पाठक मूलग्रन्थ में ही अध्याय एवं पादों के आरम्भ में कर सकते हैं।

ब्रह्मसूत्र के चारों अध्यायों पर भगवान् शङ्कराचार्य जी का सरल सहज भाषा में सूत्रों पर गम्भीर चिन्तनरूप भाष्य है जिसके विषय में श्रीवाचस्पति मिश्र ने कहा है—

नत्वा विशुद्धविज्ञानं शङ्करं करुणाकरम्। भाष्यं प्रसन्नगम्भीरं तत्प्रणीतं विभज्यते ।।

इस श्लोक में 'प्रसन्नगम्भीरम्' इस प्रकार भाष्य का जो विशेषण दिया गया है उसका तात्पर्य यही है कि जिनको शब्द न्याय तत्त्व समधिगत है उनको भाष्य का श्रवण करने मात्र से अर्थ का बोध हो जाता है और जिस भाष्य का तात्पर्यविषयीभूत अर्थ अत्यन्त निगूढ़ है, भामतीकार के

इस कथन से शाङ्करभाष्य की विशेषता सुस्पष्ट बोधित होती है। किन्तु जिनको शाब्द न्याय तत्त्व समधिगत नहीं है ऐसे मन्द अधिकारियों के लिए श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य श्री भारती तीर्थ जी ने 'वैयासिक न्यायमाला' की रचना करके ब्रह्मसूत्र के अधिकरणों का सारसंग्रह किया जिसे ग्रन्थकार ने स्वयं के द्वारा प्रणीत संस्कृत टीका में इन शब्दों से सूचित किया है—'सूत्रावीसमतिप्राज्ञविषय-स्वान्मन्दबुद्धिग्नुग्रहाय श्लोकरेषा मालास्फुटं संग्रह्यते।'

प्रकृत ग्रन्थ के रचयिता श्री भारती तीर्थ जी का संक्षिप्त परिचय यह है कि आप श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य श्री विद्या तीर्थ के कृपापात्र शिष्य हैं। इस विषय में वैयासिक न्यायमाला के मङ्गलाचरण का प्रथम श्लोक ही प्रमाणरूप से उपलब्ध होता है—'प्रणम्य परमात्मानं श्रीविद्यातीर्थ-रूपिणम्। वैयासिक न्यायमाला श्लोकैः संगृह्यते स्फुटम्॥' आप के कृपापात्र शिष्य श्री विद्यारण्य स्वामी जी हैं जिन्होंने अपने द्वारा रचित 'जैमिनीय न्यायमाला' में आप को गुरु के रूप में स्मरण किया है—

स भव्याद् भारती तीर्थ यतीन्द्र चतुराननात्। कृपामव्याहतां लब्ध्वा परार्ध्यप्रतीमोऽभवत्॥

प्रकृत ग्रन्थ वैयासिक न्यायमाला का अर्थ होता है व्यासजी के द्वारा बनायी गयी सङ्गति आदि पञ्चाङ्गों की माला। इसी अर्थ का उल्लेख करते हुए संस्कृत टीका में ग्रन्थकार ने कहा है— 'व्यासेनोक्ता वैयासिकी, वेदान्तवाक्यार्थनिर्णायिकान्यधिकरणानि न्याया तेषामनुक्रमेण ग्रथनं माला। जिनको संस्कृत भाषा पर विशेष अधिकार नहीं है उनके प्रति अनुग्रह करके इस वैयासिक न्यायमाला ग्रन्थ के गूढ़ार्थ सरल सुस्पष्ट हिन्दी भाषा में ललिताव्याख्या नामक टीका की रचना वेदान्त-सर्वदर्शनाचार्य यतीन्द्रकुलतिलक श्रीकैलास दशम पीठाधीश्वर परमादर्श महामण्डलेश्वर श्रीमत्स्वामी विद्यानन्द गिरि जी ने की है। संस्कृत टीका में जो उपलब्ध नहीं है ऐसे अधिकरण के पांच अवयवों का स्पष्ट उल्लेख करके ग्रन्थ के अवगाहन को और भी सरल बना दिया है। आप के द्वारा कैलास विद्या प्रकाशन के माध्यम से पूर्व में भी शाङ्करभाष्ययुक्त दशोपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, श्रीमद्भगवद्गीता (प्रस्थानत्रयी) के प्रमाणिक संस्करण 'गोविन्दप्रसादिनी' टिप्पणियों एवं हिन्दी व्याख्या के सहित प्रकाशित किये जा चुके हैं जिससे उपकृत सभी जिज्ञासुजन सदैव आप के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हैं। आपके द्वारा इस संस्करण से सम्बन्धित एक अन्य संस्करण मूल वैयासिक न्यायमाला तथा ललिता व्याख्या का भी प्रकाशन किया जा रहा है, उससे भी जिज्ञासुजन उपकृत होंगे। ऐसे ही भविष्य में अद्वैत मत के अन्य बहुमूल्य ग्रन्थों का भी प्रकाशन आपके द्वारा होता रहे, ऐसी शक्ति भगवान् श्री काशीविश्वनाथ जी के द्वारा आप को सदैव प्राप्त होती रहे, भगवान् विश्वेश के चरण कमलों में यही प्रार्थना है। इत्योम्।

भगवत्पादीय,
स्वामी सत्यानन्द गिरि वेदान्ताचार्य
रुद्रावास, उजेली (उत्तरकाशी)

श्रीमच्छङ्कराचार्यो विजयतेतराम्

सम्पादकीयम्

'पुरुषार्थचतुष्टयसम्पत्तिर्हि वेदत्रयीवास्तवार्थज्ञानाधीना' इत्यत्र नास्ति कश्चिद्विशय आस्तिकानाम् । तत्रापि मनुष्यदेहचरमलक्ष्यस्य कैवल्यापरपर्यायस्य मोक्षरूपपरमपुरुषार्थस्य सम्पत्तिः वेदशिरोमणीभूतोपनिषत्प्रतिपादितजीवब्रह्माभेदबुद्धयधीना; "ऋते न ज्ञानान्मुक्तिः" "ज्ञानादेव तु कैवल्यम्" इत्यगणितश्रुतिगणशतेभ्यः (जीवब्रह्मणोरैक्यख्यातेरेवात्र ज्ञानशब्दवाच्यत्वात्) ।

तत्र च वेदे वास्तवार्थविचिकित्सायां सम्प्राप्तायां तद्वारणाय मीमांसाशास्त्रं प्रणीतम्; वेदवाण्याः दुरवगाह्यत्वात् । यतो हि परोक्षप्रिया देवाः परोक्षशैल्या भाषन्ते स्म; "आचक्षते परोक्षेण परोक्षप्रिया एव हि देवाः" इति श्रुतेः । तत्र कर्मविधायकानां वाक्यानां विचाररूपो प्रथमो भागः पूर्वकाण्डप्रथमतन्त्रादिविभिन्नशब्दवाच्यः पूर्वमीमांसात्वेन प्रसिद्धो महर्षिणा जैमिनिना ग्रथितः । तथैवोपासनाज्ञानविषयकानां वाक्यानां विचाररूपोऽयं द्वितीयो भागः वेदान्तशारीरकसूत्रादिनैकशब्दवाच्यः ब्रह्मसूत्रेतिनाम्ना प्रसिद्धः बादरायणापरपर्यायेण महर्षिणा वेदव्यासेन ग्रथितः । ब्रह्मसूत्राख्यस्यास्य ग्रन्थरत्नस्य प्रामाणिकतममनपेक्षितविस्ताररहितं परञ्चात्यन्तमेव गभीरं गहनतमञ्च श्रीमच्छारीरकभाष्यमाचार्यशङ्करप्रणीतञ्जगत्प्रसिद्धम् । तस्मिन्हि भाष्ये समानविषयप्रतिपादकसूत्राणामधिकरणनाम्ना विभक्तिः दृश्यते । पद्धतिरियं श्रीभाष्यादिष्वन्येषु भाष्येष्वपि केनचिन्न्यूनाधिकेनान्तरेण सनाथिता दृश्यते । "विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम् । सङ्गतिश्चेति पञ्चाङ्गं शास्त्रेऽधिकरणं मतम्" इत्याकारकमधिकरणस्य लक्षणन्तु प्रसिद्धमेव । ब्रह्मसूत्राध्ययनकालेऽधिकरणस्थसूत्राध्ययनात्पूर्वमेव विषयादिपञ्चावयवविशिष्टस्याधिकरणप्रतिपाद्यस्यार्थस्य ज्ञानं सूत्रतात्पर्यार्थस्यावगतिसारल्ये नचिरेणावबोधने च हेतुरिति विद्यार्थिनामध्यक्षसिद्धमेव न प्रमाणान्तरमपेक्षते । एतामेव हेतुतामाकलय्य ग्रन्थकारः वैयासिकन्यायमालाख्यस्यास्य ग्रन्थस्य प्रणयनमकारि ।

लेखकविषयेऽध्यवसाय इतोऽप्यधिकान्वेषणापेक्षः । पूर्वमुद्रितसंस्करणेषु श्रीभारतीतीर्थप्रणीतत्वाख्यानन्नाध्यवसायाहंम; "विद्यारण्यकृतैः श्लोकैर्नृसिंहाश्रसूरिभिः । संदृब्धा व्याससूत्राणाम्" इत्यादिव्याससूत्रवृत्तिकाररङ्गनाथवचनविरोधात् ।

तथैव व्याख्याविषयेऽपि बोद्धव्यम्; लेखकटीकाख्यादीनाङ्कुत्राप्यनुल्लेखात् । व्याख्यायाः श्लोकव्याख्यानत्वमपि दशमश्लोकपयन्तमेव प्रतिभाति; ततोऽग्रे तु स्वतन्त्रनिबन्धप्रतीतिर्भवति । अस्मादेव च कारणात्केषुचित्संस्करणेषु दशमश्लोकपर्यन्तैव व्याख्या प्रकाशिता दृश्यते; ततः परन्तु श्लोका एव दृश्यन्ते ।

अत्र ह्यस्माभिरेवं चिन्त्यते–प्रस्तुतग्रन्थमङ्गलवाक्ये वन्दिताः श्रीविद्यातीर्थभगवत्पादाः श्रीभारतीतीर्थविद्यारण्यमुनीश्वरयोरुभयोरेव गुरव आसन्; विद्यारण्येन विवरणप्रमेयसंग्रहे "यद्विद्यातीर्थगुरवे" इत्यादिना तथैव स्वीकृतत्वात्; भारतीतीर्थगुरुत्वन्तु प्रसिद्धया नाम्ना च सिद्धमेव ।

तस्माद्वच् भयोरेव ग्रन्थकर्तृत्वसम्भवात् यद्यपि श्रीभारतीतीर्थरचितत्वेन प्रसिद्धिरस्य, तथाप्युभयोरेव ग्रन्थकर्तृत्वं स्वीक्रियते; पञ्चदश्यान्तथैव दृष्टत्वात् । सा हि पञ्चदशी विद्यारण्यमुनिरचितत्वेन प्रसिद्धाः; तथापि 'श्रीभारतीतीर्थविद्यारण्यमुनीश्वरयोः संयुक्तरचना सा' इति नाविद्गोचरो विदुषाम् । तथैव प्रस्तुतस्यास्य ग्रन्थस्य संयुक्तरचनात्वस्वीकारः सम्भवति । गद्यपद्ययोरन्यतमं श्रीभारतीतीर्थनिगदितमपरन्तु विद्यारण्यमुनिविरचितमिति सम्भाव्यते ।

अथ यत्किञ्चिदपि स्यान्नाम, अलङ्काकदन्तगणनया । तथाह्यस्य ग्रन्थस्याविगीतशिष्टपरिगृहीतत्वात्प्रामाणिकत्वं विद्यार्थिजनोपकारकत्वादुपकारकत्वञ्चासन्दिग्धमेव ।

एतामेवोपकारकतामद्यतनप्रकाशितग्रन्थेषु दुर्लभताञ्चाकलय्य सच्छात्रजनकल्पद्रुमैः कैलासब्रह्मविद्यापीठाधिपैः परमादर्शमहामण्डलेश्वरैः श्रीमत्स्वामिविद्यानन्दगिरिमहाराजैः वेदान्त–सर्वदर्शनाचार्याद्यनेकोपाधिविशिष्टैः देवानुग्रहत्रिदशकमहोत्सवोपलक्ष्ये ग्रन्थरत्नस्यास्य सव्याख्यानं संस्करणद्वयं संस्कृतटीकायुक्तायुक्तात्मकं प्रकाशितम् ।

सा च स्वातन्त्र्येण निबद्धा ललिताख्या व्याख्या व्याख्याकारिकात्मकाद्ग्रन्थशेषभागादपि महत्त्वपूर्णतराः, उभयात्मकग्रन्थशेषभागे व्याख्यानावसरेषु विशयपूर्वपक्षसिद्धान्तपक्षात्मकानामधिकरणाङ्गत्रयाणामेवोल्लेखसत्त्वात् । इह त्ववशिष्टयोरप्यङ्गद्वययोः सङ्गतिविषययोः पुनः पुनः प्रत्यधिकरणे उल्लेखात् । एतेनानया व्याख्यया ग्रन्थशेषभागस्था न्यूनता पूरितेति सिद्धम् । तेनैव चास्य व्याख्यानस्य महत्तरत्वं सिद्धम् ।

तथा चास्य ग्रन्थस्य शोधने कृतेऽपि प्रमादाद्याः त्रुटयः जाताः, ताव सुधीभिः क्षमाद्यनेकविधगुणगणालंकृतैः क्षन्तव्याः ।

"गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः ।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः ।।
दृष्टं किमपि लोकेस्मिन्न निर्दोषन्न निर्गुणम् ।
व्यावृणुध्वमतो दोषान् विवृणुध्वं गुणान्बुधाः ।।"

इति प्रार्थयति विदुषां वशंवदः
ब्रह्मचारिसिद्धार्थकृष्णः "विद्वद्देशीयः"

श्रीबादरायणविरचितब्रह्मसूत्रपाठः

प्रथमाध्याये प्रथमः पादः

अधि० क्र० गुच्छः

१. जिज्ञासाधिकरणम्

१. अथातो ब्रह्मजिज्ञासा।

२. जन्माद्यधिकरणम्

२. जन्माद्यस्य यतः।

३. शास्त्रयोनित्वाधिकरणम्

३. शास्त्रयोनित्वात्।

४. समन्वयाधिकरणम्

४. तत्तु समन्वयात्।

५. ईक्षत्यधिकरणम्

५. ईक्षतेर्नाशब्दम्।

६. गौणश्चेन्नात्मशब्दात्।

७. तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्।

८. हेयत्वावचनाच्च।

९. स्वाप्ययात्।

१०. गतिसामान्यात्।

११. श्रुतत्वाच्च।

६. आनन्दमयाधिकरणम्

१२. आनन्दमयोऽभ्यासात्।

१३. विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात्।

१४. तद्धेतुव्यपदेशाच्च।

१५. मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते।

१६. नेतरोऽनुपपत्तेः।

१७. भेदव्यपदेशाच्च।

१८. कामाच्च नानुमानापेक्षा।

१९. अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति।

७. अन्तरधिकरणम्

२०. अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्।

२१. भेदव्यपदेशाच्चान्यः।

८. आकाशाधिकरणम्

२२. आकाशस्तल्लिङ्गात्।

९. प्राणाधिकरणम्

२३. अत एव प्राणः।

१०. ज्योतिश्चरणाधिकरणम्

२४. ज्योतिश्चरणाभिधानात्।

२५. छन्दोऽभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोऽर्पणनिगदात्तथाहि दर्शनम्।

२६. भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम्।

२७. उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात्।

११. प्रतर्दनाधिकरणम्

२८. प्राणस्तथानुगमात्।

२९. न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसम्बन्धभूमा ह्यस्मिन्।

३०. शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्।

३१. जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात्।

प्रथमाध्याये द्वितीय पादः

१. सर्वत्र प्रसिद्ध्यधिकरणम्

३२. सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्।

३३. विवक्षितगुणोपपत्तेश्च।

३४. अनुपपत्तेस्तु न शारीरः।

३५. कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च।

३६. शब्दविशेषात्।

अधि० क्र०　　गुच्छः

३७. स्मृतेश्च ।

३८. अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न, निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च ।

३९. सम्भोगप्राप्तिरिति चेन्न; वैशेष्यात् ।

२. अत्त्रधिकरणम्

४०. अत्ता चराचरग्रहणात् ।

४१. प्रकरणाच्च ।

३. गुहाप्रविष्टाधिकरणम्

४२. गुहां प्रविष्टावात्मनौ हि तद्दर्शनात् ।

४३. विशेषणाच्च ।

४. अन्तराधिकरणम्

४४. अन्तर उपपत्तेः ।

४५. स्थानादिव्यपदेशाच्च ।

४६. सुखविशिष्टाभिधानादेव च ।

४७. श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च ।

४८. अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः ।

५. अन्तर्याम्यधिकरणम्

४९. अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् ।

५०. न च स्मार्तमतद्धर्माभिलापात् ।

अधि० क्र०　　गुच्छः

५१. शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते ।

६. अदृश्यत्वाधिकरणम्

५२. अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः ।

५३. विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ ।

५४. रूपोपन्यासाच्च ।

७. वैश्वानराधिकरणम्

५५. वैश्वानरः साधारणशब्द-विशेषात् ।

५६. स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति ।

५७. शब्दादिभ्योऽन्तः प्रतिष्ठानाच्च नेति चेन्न तथा दृष्ट्युपदेशाद-सम्भवात्पुरुषमपि चैनमधीयते ।

५८. अतएव न देवता भूतं च ।

५९. साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः ।

६०. अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः ।

६१. अनुस्मृतेर्बादरिः ।

६२. सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति ।

६३. आमनन्ति चैनमस्मिन् ।

प्रथमाध्याये तृतीय पादः

१. द्युभ्वाद्यधिकरणम्

६४. द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् ।

६५. मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् ।

६६. नानुमानमतच्छब्दात् ।

६७. प्राणभृच्च ।

६८. भेदव्यपदेशात् ।

६९. प्रकरणात् ।

७०. स्थित्यदनाभ्यां च ।

२. भूमाधिकरणम्

७१. भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात् ।

७२. धर्मोपपत्तेश्च ।

३. अक्षराधिकरणम्

७३. अक्षरमम्बरान्तधृतेः ।

७४. सा च प्रशासनात् ।

७५. अन्यभावव्यावृत्तेश्च ।

४. ईक्षतिकर्मव्यपदेशाधिकरणम्

७६. ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्सः ।

५. दहराधिकरणम्

७७. दहर उत्तरेभ्यः ।

७८. गतिशब्दाभ्यां तथाहि दृष्टं लिङ्गं च ।

प्रथमाध्याये चतुर्थ पादः

अधि० क्र० गुच्छः

३७. स्मृतेश्च ।
३८. अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न, निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च ।
३९. सम्भोगप्राप्तिरिति चेन्न; वैशेष्यात् ।

२. अत्त्रधिकरणम्

४०. अत्ता चराचरग्रहणात् ।
४१. प्रकरणाच्च ।

३. गुहाप्रविष्टाधिकरणम्

४२. गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ।
४३. विशेषणाच्च ।

४. अन्तराधिकरणम्

४४. अन्तर उपपत्तेः ।
४५. स्थानादिव्यपदेशाच्च ।
४६. सुखविशिष्टाभिधानादेव च ।
४७. श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च ।
४८. अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः ।

५. अन्तर्याम्यधिकरणम्

४९. अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् ।
५०. न च स्मार्तमतद्धर्माभिलापात् ।

अधि० क्र० गुच्छः

५१. शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते ।

६. अदृश्यत्वाधिकरणम्

५२. अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः ।
५३. विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ ।
५४. रूपोपन्यासाच्च ।

७. वैश्वानराधिकरणम्

५५. वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् ।
५६. स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति ।
५७. शब्दादिभ्योऽन्तः प्रतिष्ठानाच्च नेति चेन्न तथा दृष्ट्युपदेशादसम्भवात्पुरुषमपि चैनमधीयते ।
५८. अतएव न देवता भूतं च ।
५९. साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः ।
६०. अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः ।
६१. अनुस्मृतेर्बादरिः ।
६२. सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति ।
६३. आमनन्ति चैनमस्मिन् ।

प्रथमाध्याये तृतीय पादः

१. द्युभ्वाद्यधिकरणम्

६४. द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् ।
६५. मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् ।
६६. नानुमानमतच्छब्दात् ।
६७. प्राणभृच्च ।
६८. भेदव्यपदेशात् ।
६९. प्रकरणात् ।
७०. स्थित्यदनाभ्यां च ।

२. भूमाधिकरणम्

७१. भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात् ।
७२. धर्मोपपत्तेश्च ।

३. अक्षराधिकरणम्

७३. अक्षरमम्बरान्तधृतेः ।
७४. सा च प्रशासनात् ।
७५. अन्यभावव्यावृत्तेश्च ।

४. ईक्षतिकर्मव्यपदेशधिकरणम्

७६. ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्सः ।

५. दहराधिकरणम्

७७. दहर उत्तरेभ्यः ।
७८. गतिशब्दाभ्यां तथाहि दृष्टं लिङ्गं च ।

अधि० क्र० गुच्छः

७९. धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः ।

८०. प्रसिद्धेश्च ।

८१. इतरपरामर्शात्स इति चेन्नासम्भवात् ।

८२. उत्तराच्चेदाविर्भुतस्वरूपस्तु ।

८३. अन्यार्थश्च परामर्शः ।

८४. अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम् ।

६. अनुकृत्यधिकरणम्

८५. अनुकृतेस्तस्य च ।

८६. अपि च स्मर्यते ।

७. प्रमिताधिकरणम्

८७. शब्दादेव प्रमितः ।

८८. हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् ।

८. देवताधिकरणम्

८९. तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवात् ।

९०. विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दशनात् ।

९१. शब्द इति चेन्नातः प्रभावात्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ।

९२. अतएव च नित्यत्वम् ।

९३. समाननामरूपत्वाच्च वृत्तावप्यविरोधो दर्शनात् स्मृतेश्च ।

अधि० क्र० गुच्छः

९४. मध्वादिष्वसम्भवादनधिकारं जैमिनिः ।

९५. ज्योतिषि भावाच्च ।

९६. भावं तु बादरायणोऽस्ति हि ।

९. अपशूद्राधिकरणम्

९७ शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात्सूच्यते हि ।

९८. क्षत्रियत्वगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात् ।

९९. संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च ।

१०० तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः ।

१०१. श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात स्मृतेश्च ।

१०. कम्पनाधिकरणम्

१०२. कम्पनात् ।

११. ज्योतिरधिकरणम्

१०३. ज्योतिर्दर्शनात् ।

१२. अर्थान्तरत्वव्यपदेशाधिकरम्

१०४. आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ।

१३. सुषुप्त्युत्क्रान्त्यधिकरणम्

१०५ सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ।

१०६. पत्यादिशब्देभ्यः ।

प्रथमाध्याये चतुर्थ पादः

१. आनुमानिकाधिकरणम्

१०७. आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न, शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च ।

१०८. सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् ।

१०९. तदधीनत्वादर्थवत् ।

११०. ज्ञेयत्वावचनाच्च ।

१११. वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात् ।

११२. त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च ।

११३. महद्वच्च ।

२. चमसाधिकरणम्

११४. चमसवदविशेषात् ।

११५. ज्योतिरुपक्रमा तु तथा ह्यधीयत एके ।

११६. कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवविरोधः ।

इति प्रथमाध्यायः ॥१॥

अधि० क्र० गुच्छः

१. स्मृत्यधिकरणम्

१३५. स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोष-प्रसङ्गात् ।

१३६. इतरेषां चानुपलब्धेः ।

२. योगप्रत्युक्त्यधिकरणम्

१३७. एतेन योगः प्रत्युक्तः ।

३. विलक्षणत्वाधिकरणम्

१३८. न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात् ।

१३९. अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ।

१४०. दृश्यते तु ।

१४१. असदिति चेन्न; प्रतिषेधमात्रत्वात् ।

१४२. अपीतौ तद्वत् प्रसङ्गादसमञ्जसम् ।

१४३. न तु दृष्टान्तभावात् ।

१४४. स्वपक्षदोषाच्च ।

१४५. तर्काऽप्रतिष्ठानादप्यन्यथाऽनुमेयमिति चेदेवमप्यनिर्मोक्षप्रसङ्गः ।

४. शिष्टापरिग्रहाधिकरणम्

१४६. एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः ।

अधि० गुच्छः

५. भोक्त्रापत्त्यधिकरणम् ।

१४७. भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत् स्याल्लोकवत् ।

६. आरम्भणाधिकरणम्

१४८. तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ।

१४९. भावे चोपलब्धेः ।

१५०. सत्त्वाच्चावरस्य ।

१५१. असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न; धर्मान्तरेण वाक्यशेषात् ।

१५२. युक्तेः शब्दान्तराच्च ।

१५३. पटवच्च ।

१५४. यथा च प्राणादि ।

७. इतरव्यपदेशाधिकरणम्

१५५. इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः ।

१५६. अधिकं तु भेदनिर्देशात् ।

१५७. अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः ।

८. उपसंहारदर्शनाधिकरणम्

१५८. उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न; क्षीरवद्धि ।

१५९. देवादिवदपि लोके ।

९. कृत्स्नप्रसक्त्यधिकरणम्

१६०. कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्व-

द्वितीयाध्याये द्वितीयः पादः (पृ० ५३८–६४३)

अधि० क्रम० गुच्छः

६. एकस्मिन्नसम्भवाधिकरणम् ।

२०४. नैकस्मिन्नसम्भवात् ।

२०५. एवं चात्माऽकार्त्स्न्यम् ।

२०६. न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः ।

२०७. अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः ।

७. पत्यधिकरणम् ।

२०८. पत्युरसामञ्जस्यात् ।

अधि० क्र० गुच्छः

२०९. सम्बन्धानुपपत्तेश्च ।

२१०. अधिष्ठानानुपपत्तेश्च ।

२११. करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः ।

२१२. अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा ।

८. उत्पत्त्यसम्भवाधिकरणम् ।

२१३. उत्पत्त्यसम्भवात् ।

२१४. न च कर्तुः करणम् ।

२१५. विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः ।

२१६. विप्रतिषेधाच्च ।

द्वितीयाध्याये तृतीयः पादः (६४४–७४५)

१. वियदधिकरणम् ।

२१७. न वियदश्रुतेः ।

२१८. अस्ति तु ।

१२९. गौण्यसम्भवात् ।

२२०. शब्दाच्च ।

२२१. स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् ।

२२२. प्रतिज्ञाऽहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्यः ।

२२३. यावद्विकारन्तु विभागो लोकवत् ।

२. मातरिश्वाधिकरणम् ।

२२४. एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः ।

३. असम्भवाधिकरणम् ।

२२५. असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः ।

४. तेजोऽधिकरणम् ।

२२६. तेजोऽतस्तथा ह्याह ।

५. अबधिकरणम् ।

२२७. आपः ।

६. पृथिव्यधिकरणम् ।

२२८. पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः ।

७. तदभिध्यानाधिकरणम् ।

२२९. तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात् सः ।

८. विपर्ययाधिकरणम् ।

२३०. विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च ।

९. अन्तराविज्ञानाधिकरणम्

२३१. अन्तराविज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्नाविशेषात् ।

१०. चराचरव्यपाश्रयाधिकरणम् ।

२३२. चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशोभाक्तस्तद्भावभावित्वात् ।

११. आत्माधिकरणम् ।

२३३. नात्माश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः ।

१२. ज्ञाधिकरणम् ।

२३४. ज्ञोऽत एव ।

१३. उत्क्रान्तिगत्यधिकरणम्

२३५. उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् ।

२३६. स्वात्मना चोत्तरयोः ।

२३७. नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् ।

अधि० क्र.	गुच्छः

२३८. स्वशब्दोन्मानाभ्यां च ।

२३९. अविरोधश्चन्दनवत् ।

२४०. अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपगमाद्हृदि हि ।

२४१. गुणाद्वालोकवत् ।

२४२. व्यतिरेको गन्धवत् ।

२४३. तथा च दर्शयति ।

२४४. पृथगुपदेशात् ।

२४५. तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् ।

२४६. यावदात्मभावित्वाच्च नदोषस्तद्दर्शनात् ।

२४७. पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्ति योगाच्च ।

२४८. नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतरनियमो नान्यथा ।

१४. कर्त्रधिकरणम

२४९. कर्ताशास्त्रार्थवत्वात् ।

२५० विहारोपदेशात् ।

२५१. उपादानात् ।

२५२ व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देशविपर्ययः स्यात् ।

२५३. उपलब्धिवदनियमः ।

अधि० क्र०	गुच्छः

२५४. शक्तिविपर्ययात् ।

२५५. समाध्यभावच्च ।

१५. तक्षाधिकरणम्

२५६. यथा च तक्षोभयथा ।

१६. परायत्ताधिकरणम्

२५७. परात्तु तच्छ्रुतेः

२५८. कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः ।

१७. अंशाधिकरणम् ।

२५९. अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमभिधीयत एके ।

२६०. मन्त्रवर्णाच्च ।

२६१. अपि च स्मर्यते ।

२६२. प्रकाशादिवन्नैवं परः ।

२६३. स्मरन्ति च ।

२६४. अनुज्ञापरिहारौ देहासम्बन्धाज्ज्योतिरादिवत् ।

२६५. असंततेश्चाव्यतिकरः ।

२६६. आभास एव च ।

२६७. अदृष्टानियमात् ।

२६८. अभिसन्ध्यादिष्वपि चैवम् ।

२६९. प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात्

❀❀❀❀
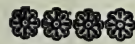
द्वितीध्याये चतुर्थः पादः

१. प्राणोत्पत्त्यधिकरणम् ।

२७०. तथा प्राणाः ।

२७१. गौण्यसम्भवात् ।

२७२. तत्प्राक्श्रुतेश्च ।

२७३ तत्पूर्वकत्वाद्वाचः ।

२. सप्तगत्यधिकरणम् ।

२७४. सप्तगतेर्विशेषितत्वाच्च ।

२७५. हस्तादयस्तु स्थितोऽतो नैवम् ।

३. प्राणाणुत्वाधिकरणम् ।

२७६. अणवश्च ।

४. प्राणश्रैष्ठ्याधिकरणम् ।

२७७. श्रेष्ठश्च ।

अधि क्रम० गुच्छः

५. न वायुक्रियाधिकरणम् ।

२७८. न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् ।

२७९. चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्टचादिभ्यः ।

२८०. अकरणत्वाच्च न दोषस्तथा हि दर्शयति ।

२८१. पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते ।

६. श्रेष्ठाणुत्वाधिकरणम् ।

२८२. अणुश्च ।

७. ज्योतिराद्यधिकरणम् ।

२८३. ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात् ।

अधि० क्रम० गुच्छः

२८४. प्राणवताशब्दात् ।

२८५. तस्य च नित्यत्वात् ।

८. इन्द्रियाधिकरणम् ।

२८६. न इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात् ।

२८७ भेदश्रुतेः ।

२८८. वैलक्षण्याच्च ।

९. संज्ञामूर्तिक्लृप्त्यधिकरणम् ।

२८९. संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात् ।

२९०. मांसादिभौमं यथाशब्दमितरयोश्च ।

२९१. वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः

तृतीयाध्याये प्रथमः पादः

१. तदन्तरप्रतिपत्त्यधिकरणम्

२९२. तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ।

२९३. त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात् ।

२९४. प्राणगतेश्च ।

२९५. अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न, भाक्तत्वात् ।

२९६. प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः ।

२९७. अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः ।

२९८. भाक्तं वानात्मवित्त्वात्तथा हि दर्शयति ।

२. कृतात्ययाधिकरणम् ।

२९९. कृतात्ययेनुशयवान्दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च ।

३००. चरणादिति चेन्नोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः ।

३०१ आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् ।

३०२ सुकृतदुष्कृते एवेति बादरिः ।

३. अनिष्टादिकार्यधिकरणम्

३०३ अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम्

३०४ संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ, तद्गतिदर्शनात् ।

३०५ स्मरन्ति च ।

३०६ अपि च सप्त ।

३०७ तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः ।

३०८ विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ।

३०९ न तृतीये तथोपलब्धेः ।

३१० स्मर्यतेऽपि च लोकेऽपि ।

३११ दर्शनाच्च ।

३१२ तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य ।

४. साभाव्यापत्त्यधिकरणम्

३१३ तत्साभाव्यापत्तिरुपपत्तेः ।

५. नातिचिराधिकरणम्

३१४ नातिचिरेण विशेषात् ।

अधि० क्रम० गुच्छः

६. अन्याधिष्ठिताधिकरणम् ।

३१५ अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदभिलापात् ।

अधि० क्रम० गुच्छः

३१६ अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् ।

३१७ रेतःसिग्योगोऽथ ।

३१८ योनेःशरीरम् ।

* * *

तृतीयाध्याये द्वितीयः पादः

१. सन्ध्याधिकरणम् ।

३१९. सन्ध्ये सृष्टिराह हि ।

३२०. निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च ।

३२१. मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्त-स्वरूपत्वात् ।

३२२. सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ।

३२३. पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ ।

३२४. देहयोगाद्वा सोऽपि ।

२. तदभावाधिकरणम् ।

३२५. तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्म-नि च ।

३२६. अतः प्रबोधोऽस्मात् ।

३. कर्मानुस्मृतिशब्दविध्य-धिकरणम् ।

३२७. स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्द-विधिभ्यः ।

४. मुग्धेऽर्धसम्पत्त्यधिकरणम् ।

३२८. मुग्धेऽर्धसम्पत्तिःपरिशेषात् ।

५. उभयलिङ्गाधिकरणम् ।

३२९. न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि ।

३३० न, भेदादिति चेन्न; प्रत्येकमतद्वच-नात् ।

३३१ अपि चैवमेके ।

३३२ अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ।

३३३ प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात् ।

३३४ आह च तन्मात्रम् ।

३३५ दर्शयति चाथोऽपि स्मर्यते ।

३३६ अत एव चोपमा सूर्यकादिवत् ।

३३७ अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम् ।

३३८ वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभय-सामञ्जस्यादेवम् ।

३३९ दर्शनाच्च ।

६. प्रकृतैतावत्त्वाधिकरणम् ।

३४० प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः ।

३४१ तदव्यक्तमाह हि ।

३४२ अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमाना-भ्याम् ।

३४३ प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात् ।

३४४ अतोऽनन्तेन तथा हि लिङ्गम् ।

३४५. उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् ।

३४६. प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात्

३४७ पूर्ववद्वा ।

३४८ प्रतिषेधाच्च ।

७. पराधिकरणम् ।

३४९ परमतस्सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यप-देशेभ्यः ।

३५० सामान्यात्तु ।

३५१ बुद्ध्यर्थः पादवत् ।

३५२ स्थानविशेषात्प्रकाशादिवत् ।

३५३ उपपत्तेश्च ।

३५४ तथान्यप्रतिषेधात् ।

अधि० क्र०	गुच्छः
३५५	अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः ।
८.	फलाधिकरणम् ।
३५६	फलमत उपपत्तेः ।
३५७	श्रुतत्वाच्च ।
३५८	धर्मं जैमिनिरत एव ।
३५९	पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात् ।

तृतीयाध्याये तृतीयः पादः

अधि० क्र०	गुच्छः
१.	सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणम् ।
३६०	सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् ।
३६१	भेदान्नेति चेन्नैकस्यामपि ।
३६२	स्वाध्यायस्य तथात्वेन हि समाचारेऽधिकाराच्च सववच्च तन्नियमः ।
३६३	दर्शयति च ।
२	उपसंहाराधिकरणम् ।
३६४	उपसंहारोऽर्थाभेदाद्विधिशेषवत् समाने च ।
३	अन्यथात्वाधिकरणम् ।
३६५	अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात् ।
३६६	नवा प्रकरणभेदात्परोवरीयस्त्वादिवत् ।
३६७	संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि
४	व्याप्त्यधिकरणम् ।
३६८	व्याप्तेश्च समञ्जसम् ।
५.	सर्वाभेदाधिकरणम् ।
३६९	सर्वाभेदादन्यत्रेमे ।
६.	आनन्दाद्यधिकरणम् ।
३७०	आनन्दादयः प्रधानस्य ।
३७१	प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौ हि भेदे ।
३७२	इतरे त्वर्थसामान्यात् ।
७.	आध्यानाधिकरणम् ।
३७३	आध्यानाय प्रयोजनाभावात् ।
३७४	आत्मशब्दाच्च ।
८	आत्मगृहीत्यधिकरणम् ।
३७५	आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् ।
३७६	अन्वयादिति चेत्स्यादवधारणात् ।
९.	कार्याख्यानाधिकरणम् ।
३७७	कार्याख्यानादपूर्वम् ।
१०.	समानाधिकरणम् ।
३७८	समान एवं चाभेदात् ।
११.	सम्बन्धाधिकरणम् ।
३७९	सम्बन्धादेवमन्यत्रापि ।
३८०	न वा विशेषात् ।
३८१	दर्शयति च ।
१२.	सम्भृत्यधिकरणम् ।
३८२	सम्भृतिद्युव्याप्त्यपि चातः ।
१३.	पुरुषाद्यधिकरणम् ।
३८३	पुरुषविद्यायामिव चेतरेषामनाम्नानात् ।
१४.	वेधाद्यधिकरणम् ।
३८४	वेधाद्यर्थभेदात् ।
१५.	हान्यधिकरणम् ।
३८५	हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात्कुशाच्छन्दस्तुत्युपगानवत्तदुक्तम् ।
१६.	साम्परायाधिकरणम् ।
३८६	साम्पराये तर्तव्याभावात्तथा ह्यन्ये ।
३८७	छन्दत उभयाविरोधात् ।
१७.	गतेरर्थवत्त्वाधिकरणम् ।
३८८	गतेरर्थवत्त्वमुभयथान्यथा हि

अधि० क्र०   गुच्छः

विरोधः ।

३८९ उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोक-
वत् ।

१८. अनियमाधिकरणम् ।

३९० अनियमः सर्वासामविरोधः शब्दा-
नुमानाभ्याम् ।

१९. यावदधिकाराधिकरणम् ।

३९१. यावदधिकारमवस्थितिराधिकारि-
काणाम् ।

२०. अक्षरध्यधिकरणम् ।

३९२. अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यत-
तद्भावाभ्यामौपसद्वत्तदुक्तम् ।

२१. इयदधिकरणम् ।

३९३. इयदामननात् ।

२२. अन्तरत्वधिकरणम् ।

३९४. अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मनः ।

३९५. अन्यथा भेदानुपपत्तिरिति चेन्नोप-
देशान्तरवत् ।

२३. व्यतिहाराधिकरणम् ।

३९६ व्यतिहारो विंशिषन्ति हीत-
रवत् ।

२४. सत्याद्यधिकरणम्

३९७ सैव हि सत्यादयः ।

२५. कामाद्यधिकाराधिकरणम् ।

३९८ कामादीतरत्र तत्र चायतना-
दिभ्यः ।

२६. आदराधिकरणम् ।

३९९ आदरादलोपः ।

४०० उपस्थितेऽतस्तद्वचनात् ।

२७. तन्निर्धारणाधिकरणम् ।

४०१ तन्निर्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथग्ध्य-
प्रतिबन्धः फलम् ।

२८. प्रदानाधिकरणम् ।

४०२ प्रदानवदेव तदुक्तम् ।

२९. लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणम् ।

४०३ लिङ्गभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्त-
दपि ।

४०४ पूर्वविकल्पः प्रकरणात्स्यात्क्रिया-
मानसवत् ।

४०५ अतिदेशाच्च ।

४०६ विद्यैव तु निर्धारणात् ।

४०७ दर्शनाच्च ।

४०८ श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न
बाधः ।

४०९ अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद्-
दृष्टश्च तदुक्तम् ।

४१० न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्न-
हि लोकापत्तिः ।

४११ परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं
भूयस्त्वात्त्वनुबन्धः ।

३०. ऐकात्म्याधिकरणम् ।

४१२ एक आत्मनः शरीरे भावात् ।

४१३ व्यतिरेकस्तद्भावाभावित्वान्न
तूपलब्धिवत् ।

३१. अङ्गावबद्धाधिकरणम् ।

४१४ अङ्गावबद्धास्तु न शाखासु हि
प्रतिवेदम् ।

४१५ मन्त्रादिवद्वाऽविरोधः ।

३२. भूमज्यायस्त्वाधिकरणम् ।

४१६ भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्व तथाहि
दर्शयति ।

३३. शब्दभेदाधिकरणम् ।

४१७ नाना शब्दादिभेदात् ।

३४. विकल्पाधिकरणम् ।

५१८ विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात् ।

३५. काम्याधिकरणम् ।

४१९ काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन्न वा

अधि० क्र० गुच्छः

पूर्वहेत्वभावात् ।

३६. यथाश्रयभावाधिकरणम् ।

४२० अङ्गेषु यथाश्रयभावः ।

४२१ शिष्टेश्च ।

अधि० गुच्छः

२२२ समाहाराच्च ।

२२३ गुणसाधारण्यश्रुतेश्च ।

२२४ न वा तत्सहभावाश्रुतेः ।

२२५ दर्शनाच्च ।

तृतीयाध्याये चतुर्थः पादः

१. पुरुषार्थाधिकरणम् ।

४२६ पुरुषार्थोऽतश्शब्दादिति बादरायणः ।

४२७ शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथाऽन्येष्विति जैमिनिः ।

४२८ आचारदर्शनात् ।

४२९ तच्छ्रुतेः ।

४३० समन्वयारम्भणात् ।

४३१ तद्वतो विधानात् ।

४३२ नियमाच्च ।

४३३ अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् ।

४३४ तुल्यं तु दर्शनम् ।

४३५ असार्वत्रिकी ।

४३६ विभागः शतवत् ।

४३७ अध्ययनमात्रवतः ।

४३८ नाविशेषात् ।

४३९ स्तुतयेऽनुमतिर्वा ।

४४० कामकारेण चैके ।

४४१ उपमर्दं च ।

४४२ ऊर्ध्वरेतस्सु च शब्दे हि ।

२. परामर्शाधिकरणम् ।

४४३ परामर्शं जैमिनिरचोदनाचापवदति हि ।

४४४ अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः ।

४४५ विधिर्वा धारणवत् ।

३. स्तुतिमात्राधिकरणम् ।

४४६ स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात् ।

४४७ भावशब्दाच्च ।

४. पारिप्लवाधिकरणम् ।

४४८ पारिप्लवार्था इति चेन्न; विशेषितत्वात् ।

४४९ तथा चैकवाक्यतोपबन्धात् ।

५. अग्नीन्धानाद्यधिकरणम् ।

४५० अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा ।

६. सर्वापेक्षाधिकरणम् ।

४५१ सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् ।

४५२ शमदमाद्युपेतः स्यात्तथापि तु तद्विधेस्तदङ्गतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात् ।

७. सर्वान्नानुमत्यधिकरणम्

४५३ सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् ।

४५४ अबाधाच्च ।

४५५ अपि च स्मर्यते ।

४५६ शब्दश्चातोऽकामकारे ।

८. आश्रमकर्माधिकरणम्

४५७ विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि ।

४५८ सहकारित्वेन च ।

४५९ सर्वथाऽपि त एवोभयलिङ्गात् ।

४६० अनभिनवं च दर्शयति ।

९. विधुराधिकरणम्

४६१ अन्तरा चापि तद्दृष्टेः ।

४६२ अपि च स्मर्यते ।

४६३ विशेषानुग्रहश्च ।

अधि० क्र०　　गुच्छः

४६४ अतस्त्वितरज्ज्यायो लिङ्गाच्च ।

१०. तद्भूताधिकरणम्

४६५ तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि नियमादतद्रूपाभावेभ्यः ।

११. अधिकाराधिकरणम्

४६६ न चाधिकारिकमपि पतनानुमानात्तद-योगात् ।

४६७ उपपूर्वमपि त्वेके भावमशनवत्त-दुक्तम् ।

१२. बहिरधिकरणम्

४६८ बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचा-राच्च ।

१३. स्वाम्यधिकरणम् ।

४६९ स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः ।

४७० आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रीयते ।

४७१ श्रुतेश्च ।

१४. सहकार्यन्तरविध्य-धिकरणम् ।

४७२ सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत् ।

४७३ कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः ।

४७४ मौनवदितरेषामप्युपदेशात् ।

१५. अनाविष्काराधिकरणम् ।

४७५ अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् ।

१६. ऐहिकाधिकरणम् ।

४७६ ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात् ।

१७. मुक्तिफलाधिकरणम् ।

४७७ एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्था-वधृतेस्तदवस्थावधृतेः

चतुर्थाध्याये प्रथमः पादः

१. आवृत्त्यधिकरणम् ।

४७८ आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ।

४७९ लिङ्गाच्च ।

२. आत्मत्वोपासनाधिकरणम् ।

४८० आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राह-यन्ति च ।

३. प्रतीकाधिकरणम्

४८१ न प्रतीके न हि सः ।

४. ब्रह्मदृष्ट्यधिकरणम् ।

४८२ ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ।

५. आदित्यादिमत्यधिकरणम् ।

४८३ आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः ।

६. आसीनाधिकरणम्

४८४ आसीनः सम्भवात् ।

४८५ ध्यानाच्च ।

४८६ अचलत्वं चापेक्ष्य ।

४८७ स्मरन्ति च ।

७, एकाग्रताधिमरणम् ।

४८८ यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ।

८. अप्रायणाधिकरणम्

४८९ आप्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम् ।

९ तदधिगमाधिकरणम् ।

४९० तदधिगमे उत्तरपूर्वाघयोरश्लेष-विनाशौ तद्व्यपदेशात् ।

१०. इतरासंश्लेषाधिकरणम् ।

४९१ इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु ।

११. अनारब्धाधिकरणम् ।

४९२ अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः ।

अधि० क्र०　　　　गुच्छ:

१२. अग्निहोत्राद्यधिकरणम् ।

४९३ अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात् ।

४९४ अतोऽन्यापि ह्येकेषामुभयोः ।

१३. विद्याज्ञानसाधनाधिकरणम् ।

४९५ यदेव विद्ययेति हि ।

१४. इतरक्षपणाधिकरणम् ।

४९६ भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा सम्पद्यते ।

चतुर्थाध्याये द्वितीयः पादः

१. वागधिकरणम्

४९७ वाङ्मनसि दर्शनाच्च ।

४९८ अतएव च सर्वाण्यनु

२. मनोऽधिकरणम् ।

४९९ तन्मनः प्राण उत्तरात् ।

३. अध्यक्षाधिकरणम्

५०० सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः

५०१ भूतेषु तच्छ्रुतेः

५०२ नैकस्मिन्दर्शयतो हि

४. आसृत्युपक्रमाधिकरणम्

५०३ समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य ।

५. संसारव्यपदेशाधिकरणम्

५०४ तदापीतेः संसारव्यपदेशात्

५०५ सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ।

५०६ नोपमर्देनातः ।

५०७ अस्यैव चोपपत्तेरेष ऊष्मा

६. प्रतिषेधाधिकरणम्

५०८ प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात् ।

५०९ स्पष्टो ह्येकेषाम् ।

५१० स्मर्यते च ।

७. वागादिलयाधिकरणम्

५११ तानि परे तथा ह्याह ।

८. अविभागाधिकरणम्

५१२ अविभागो वचनात् ।

९. तदोकोऽधिकरणम्

५१३ तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात्तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया ।

१०. रश्म्यधिकरणम्

५१४ रश्म्यनुसारी ।

५१५ निशि नेति चेन्न; सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वाद्दर्शयति च ।

११. दक्षिणायनाधिकरणम्

५१६ अतश्चायनेऽपि दक्षिणे ।

५१७ योगिनः प्रति च स्मर्यते स्मार्ते चैते ।

चतुर्थाध्याये तृतीयः पादः

१. अर्चिराद्यधिकरणम्

५१८ अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ।

२. वाय्वधिकरणम्

५१९ वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम् ।

३. तडिदधिकरणम् ।

५२० तडितोऽधिवरुणः सम्बन्धात् ।

४. आतिवाहिकाधिकरणम् ।

५२१ आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात् ।

५२२ उभयव्यामोहात्तत्सिद्धेः ।

५२३ वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ।

५. कार्याधिकरणम् ।

५२४ कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः ।

❀❀❀❀

चतुर्थाध्याये चतुर्थः पादः

॥ श्रीमदभिनवचन्द्रेश्वरो विजयतेतराम् ॥

॥ श्रीभारतीतीर्थमुनिप्रणीता ॥

॥ वैयासिकन्यायमाला ॥

॥ हिन्दीललिताव्याख्यायुता ॥

॥ प्रथमोऽध्यायः ॥

(उपोद्घातः)

प्रणम्य परमात्मानं श्रीविद्यातीर्थरूपिणम् । वैयासिकन्यायमाला श्लोकैः संगृह्यते स्फुटम् ॥१॥
एको विषयसंदेहपूर्वपक्षावभासकः । श्लोकोऽपरस्तु सिद्धान्तवादी संगतयः स्फुटाः ॥२॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः
ललिता व्याख्या
दिशन्तु शं मे गुरुपादपांसवः

श्रीविद्यातीर्थरूपी परामात्मा को प्रणाम कर मैं भारती तीर्थ वैयासिकन्यायमाला का स्फुट-संग्रह श्लोकों द्वारा कर रहा हूँ।

सभी कार्यों के प्रारम्भ में सरस्वत्यादि देवता भी जिसे नमस्कार कर कृतकृत्य हुए हैं, उस गजानन को मैं नमस्कार करता हूँ। जिस ग्रन्थ को प्रारम्भ करना इष्ट है उसकी निर्विघ्न समाप्ति के लिए, विपुल प्रचार के लिए तथा शिष्टाचार पालन के लिए विशिष्टेष्टदेवतारूप गुरुमूर्ति उपाधिवाले परमेश्वर को नमस्कार कर ग्रन्थारम्भ की प्रतिज्ञा 'प्रणम्य' इत्यादि वाक्यों द्वारा करते हैं। भगवान वेदव्यास द्वारा रचे गये वेदान्तवाक्यार्थनिर्णायक अधिकरणों को वैयासिकन्याय कहा गया है। उन न्यायों को क्रमशः रखने पर एक माला बन गयी, उसी को वैयासिकन्यायमाला कहते हैं। यद्यपि सूत्रकार एवं भाष्यकार आदि ने इसका विस्तार किया है किन्तु वे अतिवुद्धिमान् व्यक्तियों के लिए हैं। हम तो मंदवुद्धि पाठकों के ऊपर अनुग्रह कर श्लोकों द्वारा उस माला का स्फुटसंग्रह कर रहे हैं। यहाँ पर संगति, विषय, संशय, पूर्वपक्ष तथा सिद्धान्तपक्ष इन पाँच अवयववालों को एक अधिकरण की संज्ञा दी गयी है ॥१॥

प्रत्येक अधिकरण के विषय, संशय और पूर्वपक्ष को बतलाने के लिए एक श्लोक लिखा जायेगा और दूसरा श्लोक सिद्धान्तपक्ष का होगा। संगतियाँ पृथक् से स्फुट बतलायी जायेंगी।

उन अवयवों को संग्रह करने का प्रकार दिखलाते हैं। एक एक अधिकरण के संग्राहक दो दो श्लोक बनाये जायेंगे। उनमें से प्रथमश्लोक के पूर्वार्द्ध द्वारा विषय एवं संशयरूप दो अवयवों का संग्रह होगा और उत्तरार्द्ध से एक अवयव का, पर दूसरे श्लोक से केवल सिद्धान्तपक्ष का निरूपण होगा। यद्यपि संगतिनामक एक अन्य अवयव भी है, फिर भी उसका संग्रह प्रत्येक अधिकरण में पृथक् से नहीं किया जायेगा। संगति की कल्पना व्युत्पन्नपुरुष को स्वयं ही करनी पड़ेगी और एक बार ग्रन्थकार भी संकेत कर देंगे ॥२॥

शास्त्रेऽध्याये तथा पादे न्यायसंगतयस्त्रिधा । शास्त्रादिविषये ज्ञाते तत्तत्संगतिरूह्यताम् ॥३॥
शास्त्रं ब्रह्मविचाराख्यमध्यायाः स्युश्चतुर्विधाः । समन्वयाविरोधौ द्वौ साधनं च फल तथा ॥४॥
समन्वये स्पष्टलिङ्गमस्पष्टत्वेऽप्युपास्यगम् । ज्ञेयगं पदमात्रं च चिन्त्यं पादेष्वनुक्रमात् ॥५॥

संगति का प्रतिपादन विभागशः करते हैं।

शास्त्र, अध्याय और पादविषयक न्यायसंगति तीन प्रकार की है। शास्त्रादि विषय का ज्ञान हो जाने पर उसको संगति की कल्पना पाठक स्वयं भी कर सकते हैं।

'शास्त्रे' इत्यादि वाक्य से संगति को विभक्त कर के दिखलाते हैं। शास्त्रप्रतिपाद्य, अध्यायप्रतिपाद्य और पादप्रतिपाद्य अर्थ को जानकर तदनुरूप उनकी त्रिविध संगति की कल्पना पाठक कर सकते हैं ॥३॥

यह शास्त्र वेदान्तविचाररूप है। इसमें समन्वय, विरोधपरिहार, साधन एवं फल नामक चार अध्याय हैं।

शास्त्रप्रतिपाद्य और अध्यायप्रतिपाद्य अर्थ को 'शास्त्रम्' इत्यादि वाक्य द्वारा पहले दिखलाते हैं। सभी वेदान्तवाक्यों का तात्पर्यतः अद्वयब्रह्म में हो पर्यवसान है, यह प्रथम अध्याय से बतलाया गया है। द्वितीय अध्याय द्वारा सम्भावित विरोध का परिहार किया गया है। तृतीय अध्याय से विद्या के साधनों का निर्णय और चतुर्थ अध्याय द्वारा विद्या का फल बतलाया गया है। बस यही चारों अध्यायों का अर्थ है ॥४॥

उनमें प्रथम समन्वयनामक अध्याय में प्रथमपाद से स्पष्टब्रह्मलिङ्गक वाक्यों का समन्वय ब्रह्म में बतलाया गया है। द्वितीयपाद से अस्पष्टब्रह्मलिङ्गक श्रुतियों का समन्वय उपास्य ब्रह्म में और तृतीयपाद से अस्पष्टब्रह्मलिङ्ग श्रुतियों का ज्ञेयब्रह्म में समन्वय दिखलाया है। चतुर्थपाद में तो पदमात्र का विचार है।

उन चार अध्यायों में से प्रथमाध्यायगत पादार्थों का विभाग 'समन्वय' इत्यादि वाक्यों द्वारा करते हैं। स्पष्टब्रह्मलिङ्गयुक्त श्रुतिवाक्यों का विचार प्रथमपाद में किया गया है यथा 'अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्' इस सूत्र में सार्वज्ञ्य, सर्वतादात्म्य, सर्वपापविरहत्वादि ब्रह्म का असाधारण स्पष्टलिङ्ग है। जिन वाक्यों में ब्रह्मलिङ्ग स्पष्ट नहीं है किन्तु वे वाक्य उपास्यब्रह्म को बतलाते हैं, ऐसे वाक्यों का विचार द्वितीयपाद में किया गया है। यथा प्रथमाधिकरणविषय शाण्डिल्योपासनाबोधक वाक्य में मनोमयत्व प्राणशरीरत्वादि सोपाधिकब्रह्मलिङ्ग हैं क्योंकि इनमें ब्रह्म एवं जीव दोनों के साधारण होने से ब्रह्मलिङ्ग स्पष्ट नहीं है। तृतीयपाद में ज्ञेयब्रह्मविषयक श्रुतिवाक्यों का विचार किया गया है जिनमें ब्रह्मलिङ्ग स्पष्ट नहीं है। यथा तृतीयपाद के प्रथमाधिकरण में मुण्डकोपनिषद् स्थित ब्रह्मात्मत्ववाक्य में द्युलोक, भूलोक और अन्तरिक्षलोक सूत्रात्मा एवं परब्रह्म में साधारणरूप से ओतप्रोत कहे गये हैं, अतः इनमें ब्रह्मलिङ्ग स्पष्ट नहीं है। यद्यपि द्वितीयपाद में कठोपनिषद् स्थित ब्रह्मतत्त्वबोधक वाक्य का विचार किया गया है, वैसे ही तृतीयपाद में दहरोपासनाबोधक वाक्य का विचार किया गया है, फिर भी अवान्तरसंगति का लाभ होने से उस विचार को प्रासंगिक कहा है और इससे दोनों पादों के अर्थ में सांकर्य नहीं आता। इस प्रकार प्रथम अध्याय के तीन पाद से वाक्यार्थविचार सम्पन्न होता है। चतुर्थपाद द्वारा अव्यक्तपद, अजापद इत्यादि संदिग्धपदों का विचार किया गया है ॥५॥

द्वितीये स्मृतितर्काभ्यामविरोधोऽन्यदुष्टता । भूतभोक्तृश्रुतेर्लिङ्गश्रुतेरप्यविरुद्धता ॥६॥
तृतीये विरतिस्तत्त्वंपदार्थपरिशोधनम् । गुणोपसंहृतिर्ज्ञानबहिरङ्गादिसाधनम् ॥७॥
चतुर्थे जीवतो मुक्तिरुत्क्रान्तिर्गतिरुत्तरा । ब्रह्मप्राप्तिब्रह्मलोकाविति पादार्थसंग्रहः ॥८॥
ऊहित्वा संगतीस्तिस्रस्तथाऽवान्तरसंगतीः । ऊहेदाक्षेपदृष्टान्तप्रत्युदाहरणादिकाः ॥९॥

द्वितीय अध्याय के प्रथम स्मृतिपाद द्वारा समन्वय का अविरोध बतलाया गया है एवं द्वितीय तर्कपाद द्वारा अन्यपक्ष को दुष्ट सिद्ध किया गया है। भूत एवं भोक्ताजीवविषयक श्रुतियों के विरोध का परिहार तृतीयपाद से और लिङ्गशरीर विषयक श्रुतियों का विरोधपरिहार चतुर्थपाद से किया गया है।

द्वितीय अध्यायगत पादार्थों का विभाग 'द्वितीय' इत्यादि वाक्य से करते हैं। इनमें द्वितीय अध्याय के प्रथमपाद में सांख्य, योग, वंशेषिकादि स्मृतियों और उनके तर्कों से वेदान्तसमन्वय में जो विरोध आता है उसका परिहार किया गया है। द्वितीयपाद में सांख्यादि मतों को दोषयुक्त कहा गया है। तृतीयपाद में पूर्वार्द्ध से पञ्चमहाभूतविषयक श्रुतियों का परस्पर विरोध परिहार किया गया है और उत्तरार्द्ध द्वारा जीवविषयक श्रुतियों का विरोधपरिहार किया गया है। चतुर्थपाद में सूक्ष्मदेहविषयक श्रुतियों का विरोध दूर किया गया है ॥६॥

तृतीय अध्याय में क्रमशः वैराग्य, तत्त्वंपदार्थशोधन, गुणोपसंहार और ज्ञान के बहिरङ्गादि साधनों का विचार किया गया है।

तृतीय अध्यायगत पादार्थों का विभाग 'तृतीय' इत्यादि वाक्यों से करते हैं। इसके प्रथमपाद में जीव के परलोक गमनागमन पर विचार कर वैराग्य का निरूपण किया गया है। द्वितीयपाद में पूर्वार्द्ध से त्वं पदार्थ और उत्तरार्द्ध से तत्पदार्थ का शोधन किया गया है। तृतीयपाद में सगुण-विद्याओं में गुणोपसंहार बतलाया गया है और निर्गुणब्रह्म में अपुनरुक्त पद का उपसंहार कहा गया है। चतुर्थपाद में निर्गुणविद्या के बहिरङ्गसाधन आश्रम, यज्ञादि का और अन्तरङ्गसाधन शमदमादि का निरूपण किया गया है ॥७॥

चतुर्थ अध्याय में जीव की मुक्ति, उत्क्रान्ति और गति कही गयी है। वैसे ही ब्रह्मलोक की प्राप्ति और ब्रह्मलोक में स्थिति का निरूपण कर पादार्थ का संग्रह कहा गया है।

चतुर्थ अध्यायगत पादार्थों का विभाग 'चतुर्थ' इत्यादि वाक्य द्वारा करते हैं। इसके प्रथमपाद में श्रवणादि की आवृत्ति से निर्गुणब्रह्म का साक्षात्कार अथवा उपासना से सगुणब्रह्म का साक्षात्कार कर पुण्यपापलेप के विनाशरूप मुक्ति जीव की कही गयी है। द्वितीयपाद में मरणासन्न को उत्क्रान्ति का प्रकार दिखलाया गया है। तृतीयपाद में सगुणब्रह्मवित्पुरुष का ऊर्ध्वगमन उत्तरायणमार्ग से कहा गया है। चतुर्थपाद में पूर्वार्द्ध से निर्गुणब्रह्मवित्पुरुष की विदेहमुक्ति कही गयी है और उत्तरार्द्ध से सगुणब्रह्मवित्पुरुष की ब्रह्मलोकस्थिति का निरूपण किया गया है। इस प्रकार पादार्थों का संग्रह हो गया ॥८॥

पूर्वोक्त त्रिविधसंगति की कल्पनाकर वैसे ही आक्षेप, दृष्टान्त और प्रत्युदाहरणादिरूप अवान्तर संगति की भी कल्पना करें।

इस प्रकार शास्त्र, अध्याय एवं पाद के प्रतिपाद्य अर्थ बतला दिये गये। इससे क्या लाभ होगा? इस प्रश्न का उत्तर 'ऊहित्वा' इत्यादि वाक्य से देते हैं। यथा ईक्षत्यधिकरण में 'तदैक्षत' इस वाक्य पर जब सन्देह हुआ कि यह वाक्य प्रधानपरक है अथवा ब्रह्मपरक है? तब इस विचार को ब्रह्म-

पूर्वन्यायस्य सिद्धान्तयुक्तिं वीक्ष्य परे नये। पूर्वपक्षस्य युक्तिं च तत्राऽऽक्षेपादि योजयेत् ॥१०॥

सम्बन्धी मानकर ब्रह्मविचारशास्त्रसंगति कही है। सभी श्रुतियों का तात्पर्य ब्रह्म में है ऐसा निर्णय होने से समन्वयाध्यायसंगति है। ईक्षण चेतनब्रह्म का असाधारणधर्म होने से उसका स्पष्टलिङ्ग है, ऐसी संगति प्रथमपाद में कही गयी है। ऐसे ही सभी अधिकरणों में भी यथायोग्य त्रिविधसंगति की कल्पना करनी चाहिए। किन्तु अवान्तरसंगति अनेक प्रकार की हैं—आक्षेपसंगति, दृष्टान्तसंगति, प्रत्युदाहरणसंगति और प्रासंगिकसंगति इत्यादि। इस अवान्तरसंगति की कल्पना बुद्धिमान पाठक स्वयं भी कर सकते हैं ॥९॥

पूर्व अधिकरण के सिद्धान्तपक्षीययुक्ति को दृष्टि में रखकर और उत्तर अधिकरण में पूर्वपक्षीय-युक्ति को दृष्टि में रखकर वहाँ पर आक्षेपादि संगति की योजना करनी चाहिए।

'पूर्वन्यायस्य' इत्यादि वाक्य द्वारा पूर्वोक्त संगति को बतलाते हैं। यथा प्रथम अधिकरण में जब सिद्धान्ती ने ब्रह्मविचारशास्त्र आरम्भणीय सिद्ध किया और उसमें युक्ति दी कि ब्रह्म संदिग्ध है इसलिए उसका विचार करना सार्थक है। उसके बाद द्वितीय अधिकरण में पूर्वपक्षी कहता है कि जगज्जन्मादि ब्रह्म का लक्षण नहीं हो सकता क्योंकि जन्म, स्थिति और भंग जगत का होता है ब्रह्म का नहीं, तब दोनों को देखकर दोनों की आक्षेपसंगति है ऐसी योजना लगावे अर्थात् संदिग्ध होने से ब्रह्म विचारणीय है ऐसा जो आप ने कहा था इस पर यह आक्षेप होता है कि जन्मादि जगन्निष्ठ होने के कारण ब्रह्म का लक्षण नहीं हो सकता। लक्षण के अभाव में जब ब्रह्म ही नहीं है तो उसे संदिग्ध और विचारणीय कोई कैसे कह सकेगा? ऐसा सन्देह होने पर द्वितीय अधिकरण के सूत्र से ब्रह्म का लक्षण किया गया है। दृष्टान्त और प्रत्युदाहरण संगति की योजना भी यहाँ लगा सकते हैं। जैसे संदिग्ध होने से ब्रह्म को आप ने विचारणीय कहा, वैसे ही जन्मादि जगन्निष्ठ होने से ब्रह्म का लक्षण जन्मादि नहीं है। अतः पूर्व के साथ इस अधिकरण की दृष्टान्तसंगति है। वैसे ही ब्रह्म के विचारणीय होने में जैसा हेतु है वैसा लक्षण हम नहीं देखते हैं इस प्रकार प्रत्युदाहरणसंगति भी सम्भव जान पड़ती है। ये दृष्टान्त और प्रत्युदाहरण संगति सर्वत्र सुलभ है। पूर्वाधिकरण के सिद्धान्त में उत्तराधिकरण पूर्वपक्ष हेतु की समता उत्तराधिकरण के सिद्धान्त में हेतुशून्यत्ववैलक्षण्य की कल्पना मंदव्यक्ति भी कर सकता है। इस प्रकार आक्षेपसंगति का उन्नयन भी यथायोग्य हो सकता है। प्रासंगिकसंगति इस प्रकार की है—देवताधिकरण अधिकारविचारपरक होने से समन्वयाध्याय में ज्ञेयब्रह्मवाक्यविषयक तृतीयपाद में संगति के न रहने पर भी बुद्धिस्थ अवान्तर संगति तो है ही उसे समझाते हैं कि पूर्वाधिकरण में 'अङ्गुष्ठमात्र' वाक्य ब्रह्मपरक वाक्य होने से ब्रह्म अङ्गुष्ठमात्र है इसमें मनुष्य का अधिकार शास्त्र इसलिए कहता है, क्योंकि मनुष्य का हृदय अङ्गुष्ठपरिमाण है। इस प्रसङ्ग से देवताधिकार भी बुद्धिस्थ हो जाता है, बस यही प्रासंगिकसंगति है। इस प्रकार अधिकरणों की संगति बतला दी गयी। अब प्रत्येक अधिकरण में दो-दो श्लोक द्वारा निरुक्त अवयव-चतुष्टय का संग्रह किया जाता है ॥१०॥

प्रथमाध्याय प्रथम पाद में स्पष्टब्रह्मलिङ्गयुक्त श्रुतिवाक्यों का विचार किया गया है।

(१) जिज्ञासाधिकरणम् ॥१॥

अविचार्यं विचार्यं वा ब्रह्माध्यासानिरूपणात् । असन्देहाफलत्वाभ्यां न विचारं तदर्हति ॥११॥
अध्यासोऽहंबुद्धिसिद्धोऽसङ्गं ब्रह्म श्रुतीरितम् । सन्देहान्मुक्तिभावाच्च विचार्यं ब्रह्म वेदतः ॥१२॥

(२) जन्माद्यधिकरणम् ॥२॥

लक्षणं ब्रह्मणो नास्ति किंवाऽस्ति नहि विद्यते । जन्मादेरन्यनिष्ठत्वात्सत्यादेश्चाप्रसिद्धितः ॥१३॥
ब्रह्मनिष्ठं कारणत्वं स्याल्लक्ष्म स्रग्भुजङ्गवत् । लौकिकान्येव सत्यादीन्यखण्डं लक्षयन्ति हि ॥१४॥

(३) शास्त्रयोनित्वाधिकरणम् ॥३॥

(प्रथमं वर्णकम्)

न कर्तृ ब्रह्म वेदस्य किंवा कर्तृ न कर्तृ तत् । विरूप नित्यया वाचेत्येवं नित्यत्ववर्णनात् ॥१५॥

---

१. जिज्ञासाधिकरण

१. संगति—जिज्ञासाधिकरण पहला है इससे पूर्व कोई अधिकरण नहीं है। अतः इसको अधिकरण संगति बतलाना आवश्यक नहीं है।

२. विषय—जिज्ञासाधिकरण का विचारणीय विषय वेदान्त शास्त्र है।

३. संशय—ब्रह्म विचारणीय है या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—अध्यास का निरूपण न होने से सन्देह तथा फल भी नहीं दीखते, अतः ब्रह्म विचारणीय नहीं है।

५. सिद्धान्त—अहंबुद्धि में अध्यास सिद्ध होता है और श्रुति ने ब्रह्म को असङ्ग कहा है। अतः ब्रह्म के विषय में सन्देह है और ब्रह्मज्ञान से मोक्षरूप फल भी होता है इसलिए श्रुति के आधार पर ब्रह्म का विचार करना चाहिए।

२. जन्माद्यधिकरण

१. संगति—जिज्ञास्य ब्रह्म का जब लक्षण ही नहीं बनता फिर स्वरूप की सिद्धि कैसे ? ऐसी स्थिति में ब्रह्म विचार का विषय कैसे होगा ? इस प्रकार आक्षेप होने पर जन्माद्यधिकरण लिखना पड़ा।

२. विषय—जन्माद्यधिकरण में ब्रह्मलक्षण पर विचार किया गया है।

३. संशय—ब्रह्म का लक्षण है या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—जन्मादि जगन्निष्ठ है और सत्यादि पद का अर्थ प्रसिद्ध नहीं है, इसलिए ब्रह्म का लक्षण नहीं बन सकता है।

५. सिद्धान्त—ब्रह्म जगज्जन्मादि का कारण है। अतः जगज्जन्मादिकारणता ब्रह्म में है। जैसे रज्जुसर्पादि के जन्म का कारण रज्जु है वैसे ही जगज्जन्मादि का कारण अधिष्ठान रूप से ब्रह्म है। वैसे ही लौकिक वाक्यों की भाँति 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि वाक्य भी लक्षणा से ब्रह्म का बोध कराते हैं।

३. शास्त्रयोनित्वाधिकरण

(प्रथम वर्णक)

१. संगति—निखिल जगत् का कारण होने से आप ने ब्रह्म में सर्वज्ञत्व कहा, वह ठीक नहीं है क्योंकि जगदन्तःपाती वेद भी है और वह नित्य है, फिर तो निखिल जगत्कारणत्व ब्रह्म में कहना अयुक्त है ऐसा आक्षेप होने पर शास्त्रयोनित्वाधिकरण प्रारम्भ करते हैं।

कर्तृ निःश्वसिताद्युक्तेर्नित्यत्वं पूर्वसाम्यतः । सर्वावभासिवेदस्य कर्तृत्वात्सर्वविद्भवेत् ॥१६॥

(द्वितीयं वर्णकम्)

अस्त्यन्यमेयताऽप्यस्य किंवा वेदैकमेयता । घटवत्सिद्धवस्तुत्वाद्ब्रह्मान्येनापि मीयते ॥१७॥

रूपलिङ्गादिराहित्यान्नास्य मान्तरयोग्यता । तं त्वौपनिषदेत्यादौ प्रोक्ता वेदकमेयता ॥१८॥

(४) समन्वयाधिकरणम् ॥४॥

(प्रथमं वर्णकम्)

वेदान्ताः कर्तृदेवादिपरा ब्रह्मपरा उत । अनुष्ठानोपयोगित्वात्कर्त्रादिप्रतिपादकाः ॥१९॥

---

२. विषय—शास्त्रयोनित्वाधिकरण में वेदकर्ता-ब्रह्म का विचार किया गया है ।

३. संशय—वेद का कर्ता ब्रह्म है या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—'वाचा विरूप नित्यया' इस वेदवाक्य में वेद को नित्य कहा गया है, उसका कर्ता कोई नहीं हो सकता । अतः वेद का कर्ता ब्रह्म नहीं है ।

५. सिद्धान्त—वेदकर्ता ब्रह्म ही है क्योंकि वेद परमेश्वर का श्वास-निःश्वास है, नित्यता तो समानता को लेकर कही गयी है । सब का प्रकाशक वेद का कर्ता होने से ब्रह्म सर्वज्ञ है ।

(द्वितीय वर्णक)

१. संगति—पूर्वाधिकरण में सम्पूर्ण जगत् का कारणत्व ब्रह्म का लक्षण किया, वह तो प्रमाणान्तर गम्य है, ऐसी शङ्का हो सकती है । अतः 'लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः' इस नियम के अनुसार लक्षण और प्रमाण दोनों ही ब्रह्म के निर्णायक हैं । अतः पूर्वाधिकरण के साथ इस अधिकरण की एकफलकत्व संगति है । अर्थात् पूर्वाधिकरण से ब्रह्म का लक्षण किया गया और इस अधिकरण से ब्रह्म के विषय में प्रमाण प्रस्तुत किया गया ।

२. विषय—यहाँ पर ब्रह्मविषयक प्रमाणों का विचार किया गया है ।

३. संशय—सिद्धब्रह्म शास्त्रैकगम्य है अथवा अन्य प्रमाणों का भी विषय है ।

४. पूर्वपक्ष—घटादि की भाँति सिद्धवस्तु होने से ब्रह्म वेदभिन्न प्रमाण से भी जाना जा सकता है ।

५. सिद्धान्त—रूप, लिङ्गादि से रहित होने के कारण वेदभिन्न प्रमाण से ब्रह्म जानने योग्य नहीं है । साथ ही 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' (मैं तुझे औपनिषद पुरुष के विषय में पूछता हूँ) इत्यादि श्रुतिवाक्य में ब्रह्म को वेदैकगम्य बतलाया गया है । अतः वेदभिन्न किसी भी प्रमाण से ब्रह्म नहीं जाना जा सकता ।

४. समन्वयाधिकरण

(प्रथम वर्णक)

१. संगति—ब्रह्म में शास्त्रप्रमाणकत्व आप ने कैसे कहा, जब कि 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' (जै० १-२ १) इस वाक्य से महर्षि ने शास्त्र में क्रियापरत्व दिखलाया है, ऐसा आक्षेप होने पर समन्वयाधिकरण लिखना पड़ा ।

२. विषय—इस अधिकरण में सभी वेदान्तवाक्य विचार के विषय हैं ।

३. संशय—वेदान्तकर्ता, देवतादि के प्रकाशक होने से क्रिया के शेष हैं अथवा नित्यसिद्धब्रह्म-प्रतिपादक होने से ब्रह्मपरक हैं ? ऐसा सन्देह होता है ।

भिन्नप्रकरणाल्लिङ्गषट्काच्च ब्रह्मबोधकाः । सति प्रयोजनेऽनर्थहानेऽनुष्ठानतोऽत्र किम् ॥२०॥

(द्वितीयं वर्णकम्)

प्रतिपत्तिं विधित्सन्ति ब्रह्मण्यवसिता उत । शास्त्रत्वात्ते विधातारो मननादेश्च कीर्तनात् ॥२१॥

नाकर्तृतन्त्रेऽस्ति विधिः शास्त्रत्वं शंसनादपि । मननादिः पुरा बोधाद्ब्रह्मण्यवसितास्ततः ॥२२॥

(५) ईक्षत्यधिकरणम् ॥५॥

तदैक्षतेतिवाक्येन प्रधानं ब्रह्म वोच्यते । ज्ञानक्रियाशक्तिमत्त्वात्प्रधानं सर्वकारणम् ॥२३॥

ईक्षणाच्चेतनं ब्रह्म क्रियाज्ञाने तु मायया । आत्मशब्दात्मतादात्म्ये प्रधानस्य विरोधिनी ॥२४॥

---

४. पूर्वपक्ष—वेदान्त अनुष्ठानोपयोगी होने से कर्ता, देवतादि अर्थ के ही बोधक हैं।

५. सिद्धान्त—वेदान्त कर्मकाण्ड से भिन्न प्रकरण है। अतः वे कर्मशेष नहीं किन्तु ब्रह्मबोधक हैं। साथ ही तात्पर्यनिर्णायक षड्विध लिङ्गों के कारण भी वेदान्त ब्रह्मतत्त्व के बोधक हैं। जब अनर्थ की निवृत्ति वेदान्तज्ञान का स्वतन्त्र प्रयोजन है, फिर भला क्रिया का शेष इसे क्यों माना जाय।

(द्वितीय वर्णक)

१. संगति—मान लिया ब्रह्म शास्त्रप्रमाण से सिद्ध है फिर भी यूपादि की भांति विधि के शेषरूप से ही शास्त्र ने ब्रह्म को बतलाया है। ऐसा प्रसंग उपस्थित होने पर समन्वयाधिकरण लिखना पड़ा, अतः पूर्व अधिकरण के साथ इस अधिकरण की प्रसंग संगति है।

२. विषय—वेदान्त में स्वातन्त्र्य का विचार किया गया है।

३. संशय—वेदान्त उपासनाविधि के विषयरूप से ब्रह्म को बतलाते हैं अथवा स्वतन्त्ररूप से ? ऐसा संशय होता है।

४. पूर्वपक्ष—प्रवृत्त्यादि के बोधकवाक्य को शास्त्र कहते हैं, सिद्ध अर्थ में तो शक्तिग्रह होता ही नहीं, ऐसी स्थिति में विधिविषयरूप से ही वेदान्तशास्त्र ब्रह्म का समर्पक है।

५. सिद्धान्त—सिद्धवस्तु में विधि की प्रवृत्ति नहीं होती और हित का उपदेशक होने से भी वेदान्त शास्त्र कहा गया है। ब्रह्मसाक्षात्कार से पूर्व मन एवं निदिध्यासन का विधान है। अतः अद्वयब्रह्म में ही वेदान्तशास्त्र का पर्यवसान माना गया है, क्रिया में नहीं।

५. ईक्षत्यधिकरण

१. संगति—कूटस्थ होने के कारण जब ब्रह्म में क्रियाशक्ति ही नहीं, तो भला वह जगत् का कारण कैसे हो सकेगा ? इस प्रकार आक्षेप होने पर इस अधिकरण का प्रारम्भ हुआ, अतः पूर्व के साथ इस अधिकरण की आक्षेप संगति है।

२. विषय—यहाँ पर 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६-२-१) इत्यादि श्रुति-वाक्य विचार का विषय है।

३. संशय—'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६-२-३) इस वाक्य द्वारा प्रधान बतलाया गया है अथवा ब्रह्म ? ऐसा संशय होता है।

४. पूर्वपक्ष—ज्ञान एवं क्रियाशक्ति से युक्त होने के कारण सब का कारण सच्छब्दवाच्य प्रधान ही है।

५. सिद्धान्त—जगत्स्रष्टा को ईक्षणकर्ता कहा गया है, जो चेतन का धर्म है। कूटस्थ ब्रह्म में माया से ज्ञान एवं क्रियाशक्ति सम्भव हो जाती है। साथ ही सच्छब्दवाच्य तत्त्व को आत्मा कहा है, इसके साथ तादात्म्य होने पर मोक्ष मिलता है। ये सभी बातें प्रधानपक्ष विरोधी हैं।

(६) आनन्दमयाधिकरणम् ॥६॥

[एकदेशिमतम्]

संसारी ब्रह्म वाऽऽनन्दमयः संसार्ययं भवेत् । विकारार्थमयट्शब्दात्प्रियाद्यवयवोक्तितः ॥२५॥
अभ्यासोपक्रमादिभ्यो ब्रह्माऽऽनन्दमयो भवेत् । प्राचुर्यार्थो मयट्शब्दः प्रियाद्याः स्युरुपाधिगाः ॥२६॥

[सिद्धान्तमतम्]

अन्याङ्गं स्वप्रधानं वा ब्रह्म पुच्छमिति श्रुतम् । स्यादानन्दमयस्याङ्गं पुच्छेऽङ्गत्वप्रसिद्धितः ॥२७॥
लाङ्गूलासम्भवादत्र पुच्छेनाऽऽधारलक्षणा । आनन्दमयजीवोऽस्मिन्नाश्रितोऽतः प्रधानता ॥२८॥

(७) अन्तरधिकरणम् ॥७॥

हिरण्मयो देवतात्मा किंवाऽसौ परमेश्वरः । मर्यादाधाररूपोक्तेर्देवतात्मैव नेश्वरः ॥२९॥

---

६. आनन्दमयाधिकरण

(एकदेशी मत)

१. संगति—ईक्षत्यधिकरण में 'तत्तेज ऐक्षत' (छा० ६-२-३) इत्यादि वाक्यगत ईक्षण अमुख्यप्राय कहा गया है, अतः जिस प्रकार वह जगत्कारणत्व का निर्णायक नहीं है, वैसे ही 'आत्माऽनन्दमयः' (तै० २-५) इस वाक्य में मयट् प्रत्यय विकारार्थक होने से तत्त्वनिर्णायक नहीं हो सकता। इस प्रकार पूर्व के साथ इस अधिकरण की प्रत्युदाहरण संगति है।

२. विषय—यहाँ पर 'आत्माऽनन्दमयः' इस तैत्तिरीय श्रुतिवाक्य पर विचार किया गया है।

३. संशय—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २-१) इस वाक्य द्वारा प्रक्रान्त ब्रह्म को ही 'आनन्दमयः' शब्द से कहा गया है अथवा कोई दूसरा पदार्थ आनन्दमयपदवाच्य है?

४. पूर्वपक्ष—'आनन्दमय' इस पद में विकारार्थक मयट् प्रत्यय रहने के कारण ब्रह्म से भिन्न कोई दूसरा पदार्थ आनन्दमयपदवाच्य होना चाहिए। जिसके प्रिय, मोद एवं प्रमोद अवयव हैं।

५. सिद्धान्त—पुनरावृत्ति और उपक्रमादि को देखते हुए 'आनन्दमय' पद का अर्थ ब्रह्म ही करना चाहिए। मयट् प्रत्यय यहाँ पर प्राचुर्य अर्थ में है, विकार अर्थ में नहीं। विशुद्ध निरवयव ब्रह्म में प्रियादि अवयव औपाधिक हैं, परमार्थतः नहीं है।

(सैद्धान्तिक मत)

१. संगति—भगवत्पादीय मतानुसार जैसे पूर्वाधिकरण में मुख्य-ईक्षण के अनुरोध से ब्रह्मनिर्णय में गौण प्रवाहपाठ निश्चायक नहीं है, ऐसे ही 'पुच्छ' शब्द आधार एवं अवयव दोनों अर्थ के लक्षक समानरूप हैं; ऐसी स्थिति में अवयवप्राय पठित होने पर भी 'पुच्छ' शब्द किसी भी अर्थ का निश्चायक नहीं हो सकता। इस प्रकार पूर्वाधिकरण के साथ इसकी प्रत्युदाहरण संगति है।

२. विषय—सिद्धान्तपक्ष में 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' (त० २-५) यह वाक्य विचारणीय है।

३. संशय—'आनन्दमय' के पुच्छरूप से इस तैत्तिरीय श्रुतिवाक्य में ब्रह्म का उपदेश है अथवा स्वप्रधानरूप से?

४. पूर्वपक्ष—ब्रह्म आनन्दमय का अङ्ग है क्योंकि पुच्छ में अङ्गत्व प्रसिद्ध है।

५. सिद्धान्त—निरवयव ब्रह्म में पुच्छत्व का होना सम्भव नहीं है, अतः 'पुच्छ' शब्द का आधार अर्थ लक्षणा करनी चाहिए। साथ ही आनन्दमय पद का अर्थ जीव है जो ब्रह्म के आश्रित है, इसलिए 'पुच्छ' वाक्य में ब्रह्म को ही स्वरूपतः प्रधानता है।

७. अन्तरधिकरण

१. संगति—पूर्वाधिकरण में ब्रह्म पद, आनन्दमय पद एवं आनन्दाभ्यास पद को देखकर

सार्वात्म्यात्सर्वदुरितराहित्याच्चेश्वरो मतः । मर्यादाद्या उपास्त्यर्थमीशेऽपि स्युरुपाधिगाः ॥३०॥

(८) आकाशाधिकरणम् ॥८॥

आकाश इति होवाचेत्यत्र खं ब्रह्म वाऽत्र खम् । शब्दस्य तत्र रूढत्वाद्वाय्वादेः सर्जनादपि ॥३१॥
साकाशजगदुत्पत्तिहेतुत्वाच्छ्रौतरूढितः । एवकारादिना चात्र ब्रह्मैवाऽऽकाशशब्दितम् ॥३२॥

(९) प्राणाधिकरणम् ॥९॥

मुखस्थो वायुरीशो वा प्राणः प्रस्तावदेवता । वायुर्भवेत्तत्र सुप्तौ भूतसारेन्द्रियक्षयात् ॥३३॥

अनेक प्रमाण होने के कारण जैसे निर्विशेष ब्रह्म का निर्णय किया गया था, ऐसे ही पूर्वोक्त युक्ति से रूपवत्त्वादि अनेक प्रमाणों को देखते हुए हिरण्मय पुरुष कोई ससारी है ऐसा पूर्वपक्ष का उत्थान होता है। अतः पूर्वाधिकरण के साथ इस अधिकरण की दृष्टान्त संगति है।

२. विषय—'अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते' (छा० १-६-६) यह छान्दोग्य श्रुतिवाक्य इस अधिकरण में विचारणीय विषय है।

३. संशय—कर्म और उपासना के अनुष्ठान से उत्कर्ष को प्राप्त सूर्यमण्डल एवं नेत्र में उपास्य कोई देवता है अथवा परमेश्वर हैं?

४. पूर्वपक्ष—मर्यादा, आधार और रूप का वर्णन होने से इन दोनों स्थानों में देवता ही उपास्य कहा गया है, ईश्वर नहीं।

५. सिद्धान्त—सर्वात्मा तथा सम्पूर्ण पापों से रहित पुरुष का वर्णन उक्त दोनों स्थानों में किया गया है जो ईश्वर में ही सम्भव है। मायामहिमा से लोकानुग्रहार्थ उसमें रूपवत्ता उपासना के लिए सम्भव है। मर्यादा एवं आधार परमेश्वर में औपाधिक है। अतः आदित्यमण्डल एवं नेत्र में उपास्य हिरण्मय पुरुष परमात्मा ही है।

८. आकाशाधिकरण

१. संगति—पूर्वाधिकरण में सर्वपापराहित्यादि ब्रह्मलिङ्ग के आधार पर रूपवत्त्वादि का जिस प्रकार अन्यथा अर्थ किया गया था वैसा यहाँ पर लिङ्गप्रमाण के आधार पर आकाशश्रुति का अन्यथानयन नहीं हो सकता, क्योंकि लिङ्गप्रमाण से श्रुतिप्रमाण बलवान होता है। अतः पूर्वाधिकरण के साथ इसकी प्रत्युदाहरण संगति हैं।

२. विषय—'अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच' (छा० १-९-१) इत्यादि वाक्य इस अधिकरण में विचार का विषय है।

३. संशय—आकाश शब्द से परब्रह्म का उपदेश है अथवा भूताकाश का?

४. पूर्वपक्ष—लोकप्रसिद्धि को देखते हुए आकाश शब्द का अर्थ भूताकाश ही होना चाहिए, ब्रह्म में तो सादृश्य को लेकर आकाश शब्द का प्रयोग कहीं-कहीं पर किया गया है। वायु आदि क्रम से आकाश भी जगत् का स्रष्टा हो जाता है।

५. सिद्धान्त—आकाश के सहित सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति का हेतु होने से, लौकिकरूढ़ की अपेक्षा श्रौतरूढ़ बलवान होने से एव एवकार आदि शब्द का प्रयोग देखते हुए भी यहाँ पर आकाश शब्द का ब्रह्म ही अर्थ सुनिश्चित है, अन्य नहीं।

९. प्राणाधिकरण

१. संगति—अतिदेश होने के कारण यहाँ पर भी पूर्वोक्त प्रत्युदाहरण संगति ही लेनी चाहिए।

२. विषय—'कतमा सा देवतेति प्राण इति होवाच' (छा० १-११-४) यह छान्दोग्य श्रुतिवाक्य ही यहाँ पर विचारणीय विषय है।

सङ्कोचोऽक्षपरत्वे स्यात्सर्वभूतलयश्रुतेः । आकाशशब्दवत्प्राणशब्दस्तेनेशवाचकः ॥३४॥

(१०) ज्योतिश्चरणाधिकरम् ॥१०॥

कार्यं ज्योतिरुत ब्रह्म ज्योतिर्दीप्यत इत्यतः । ब्रह्मणोऽसंनिधेः कार्यं तेजोलिङ्गबलादपि ३५॥

चतुष्पात्प्रकृतं ब्रह्म यच्छब्देनानुवर्त्यते । ज्योतिः स्याद्भासकं ब्रह्म लिङ्गं तूपाधियोगतः ॥३६॥

(११) प्रतर्दनाधिकरणम् ॥११॥

प्राणोऽस्मीत्यत्र वाय्विन्द्रजीवब्रह्मसु संशयः । चतुर्णां लिङ्गसद्भावात्पूर्वपक्षस्त्वनिर्णयः ॥३७॥

---

३. संशय—क्या यहाँ पर प्राण शब्द से ब्रह्म का उपदेश किया गया है अथवा मुखस्थ वायु का ?

४. पूर्वपक्ष—प्रस्ताव देवता के रूप में वायु का उपदेश ही यहाँ पर मानना उचित होगा, क्योंकि सुषुप्ति में भूतों का सार इन्द्रियों का प्रलय प्रत्यक्षसिद्ध है और प्राण को (व्यापारयुक्त होने से) जागृति भी प्रसिद्ध है ।

५. सिद्धान्त—यदि वायु का अर्थ प्राण करोगे, तो सर्वभूतलय श्रुति का संकोच हो जायेगा । अतः सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, लय का कारण होने से जैसे पूर्व अधिकरण में आकाश शब्द का अर्थ ब्रह्म किया गया था, वैसे ही यहाँ पर भी सर्वभूतलय श्रुति को देखते हुए प्राण शब्द परमात्मा अर्थ का वाचक होगा ।

१०. ज्योतिश्चरणाधिकरण

१. संगति—पूर्वाधिकरण में ब्रह्मलिङ्ग के सद्भाव से जैसे प्राण शब्द का अर्थ ब्रह्म किया था, वैसा यहाँ पर ब्रह्मलिङ्ग नहीं है, जिससे कि ज्योति शब्द का अर्थ ब्रह्म कर सकें, ऐसी प्रत्युदाहरण संगति है ।

२ विषय—'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते, विश्वतः पृष्ठेषु' (छा० ३-१३-७) इत्यादि वाक्य यहाँ पर विचारणीय विषय है ।

३. संशय—क्या ज्योति शब्द आदित्यादि का वाचक है अथवा ब्रह्मपरक है ?

४. पूर्वपक्ष—ब्रह्म की सन्निधि न होने के कारण कार्यरूप तेज ही ज्योति शब्द का अर्थ यहाँ पर करना चाहिए । वाक्यप्रमाण से लिङ्गप्रमाण बलवान होता है । इसलिए भी ज्योति शब्द का अर्थ कार्यज्योति ही करना चाहिए ।

५. सिद्धान्त—ज्योति शब्द का अर्थ परब्रह्म लेना ही उचित है, क्योंकि इस वाक्य में उसके चार पाद कहे गये हैं । प्रकाशक को बहुधा ज्योति शब्द से सम्बोधित भी करते हैं, इसलिए चतुष्पात् प्रकरणागत ब्रह्म के लिए ही 'यत्' शब्द का प्रयोग हुआ है । प्रदेशविशेष ब्रह्म में औपाधिक हो हो सकता है, अधिकरणनिर्देश भी उपासना के लिए उचित ही है । अतः 'ज्योतिर्दीप्यते' इस वाक्य में भी ब्रह्म का सुस्पष्ट उपदेश किया गया है ।

११. प्रतर्दनाधिकरण

१. संगति—पूर्वाधिकरण में प्रकरणागत त्रिपादब्रह्म के परामर्शक 'यत्' शब्द के साथ सामानाधिकरण्य होने के कारण 'ज्योतिः' शब्द का अर्थ भले ही ब्रह्म कर लिया गया हो, किन्तु इस अधिकरण में 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा' (कौ० ३-२) यहाँ पर असाधारणब्रह्मलिङ्ग न होने से प्राण शब्द ब्रह्मपरक नहीं हो सकता, ऐसी प्रत्युदाहरण संगति के कारण प्रतर्दनाधिकरण कहा गया है ।

२. विषय—'स होवाच प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमुपास्व' यह कौषीतकि श्रुति यहाँ पर विचारणीय है ।

ब्रह्मणोऽनेकलिङ्गानि तानि सिद्धान्यनन्यथा। अन्येषामन्यथासिद्धेर्युत्पाद्यं ब्रह्मनेतरत् ॥३८॥
॥ इति प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

॥ अथ द्वितीयः पादः ॥

(१२) सर्वत्र प्रसिद्धयधिकरणम् ॥१॥

मनोमयोऽयं शारीर ईशो वा प्राणमानसे। हृदयस्थित्यणीयस्त्वे जीवे स्युस्तेन जीवगाः ॥१॥
शमवाक्यगतं ब्रह्म तद्धितादिरपेक्षते। प्राणादियोगश्चिन्तार्थाऽऽइचन्त्यं ब्रह्म प्रसिद्धितः ॥२॥

---

३. संशय—क्या प्राण शब्द से वायु, इन्द्र देवता, जीव या परब्रह्म का उपदेश किया गया है ?

४. पूर्वपक्ष—जब चारों अर्थों के बोधक लिङ्ग विद्यमान हैं तो किसी एक अर्थ का निर्णय करना उचित नहीं होगा।

५. सिद्धान्त—प्राण शब्द का अर्थ ब्रह्म ही लेना चाहिए क्योंकि वे अनेक लिङ्ग ब्रह्म में ही अव्यभिचरितरूप से सिद्ध हैं, ब्रह्मभिन्न अर्थ में तो वे लिङ्ग अन्यथासिद्ध हैं। अतः 'प्राण' शब्द का अर्थ ब्रह्म ही लेना चाहिए, अन्य नहीं।

❀❀❀❀

प्रथमाध्याय—द्वितीय पाद

उपास्यब्रह्मविषयक अस्पष्टब्रह्मलिङ्गयुक्त श्रुतिवाक्यों का द्वितीय पाद में विचार किया गया है।

१२. सर्वत्र प्रसिद्धयधिकरण

१. संगति—पिछले अधिकरण में जीवादि लिङ्ग का बाध हो जाने और अव्यभिचरितब्रह्मलिङ्ग होने के कारण ब्रह्मपरक ही माना गया था, वैसा यहाँ पर 'मनोमयादि' वाक्य में अव्यभिचरितब्रह्मलिङ्ग नहीं है जिससे कि उस वाक्य को ब्रह्मपरक माना जाय, ऐसी प्रत्युदाहरण संगति के कारण इस अधिकरण का प्रारम्भ हुआ।

२. विषय—छान्दोग्य उपनिषद् शाण्डिल्यविद्या में कहा है 'स क्रतुं कुर्वीत', 'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः' (छा० ३-१४-१२) इत्यादि मन्त्र इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—मनोमय जीवात्मा है अथवा परमात्मा है ? ऐसा संशय होता है।

४. पूर्वपक्ष—प्राण एवं मन जीव के होते हैं। हृदय में स्थिति और अणीयस्त्व भी जीव के धर्म हैं। अतः मनोमयत्वादि-धर्मविशिष्ट जीव ही यहाँ पर उपास्यरूप से कहा गया है।

५. सिद्धान्त—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म इति शान्त उपासीत' इस शमवाक्यगत ब्रह्म की उपासना से जीव का हित कहा गया है अतः उसी की उपासना का विधान शाण्डिल्यविद्या में किया गया है। सर्वत्र वेदान्त में जो जगत्कारण ब्रह्म प्रसिद्ध है उसी को वाक्यारम्भ में 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस वाक्य से कहा गया है और वही मनोमयत्वादि-धर्मविशिष्टरूप से उपासना के लिए उपदिष्ट है। प्राणादि का सम्बन्ध उपासना के लिए बतलाया गया है ऐसा मानने से प्रसंग का त्याग नहीं होता और अप्रासंगिक बात का ग्रहण भी नहीं होता। अतः शाण्डिल्यविद्या में मनोमयत्वादिधर्मविशिष्ट ब्रह्म ही उपास्य है, यह निश्चित हुआ।

(१३) अत्रधिकरणम् ॥२॥

जीवोऽग्निरीशो वाऽत्ता स्यादोदने जीव इष्यताम् । स्वाद्वत्तीति श्रुतेर्वह्निर्वाऽग्निरन्नाद इत्यतः ॥३॥
ब्रह्मक्षत्रादिजगतो भोज्यत्वात्स्यादिहेश्वरः । ईशप्रश्नोत्तरत्वाच्च संहारस्तस्य चात्तृता ॥४॥

(१४) गुहाधिकरणम् ॥३॥

गुहां प्रविष्टौ धीजीवौ जीवेशौ वा हृदि स्थितौ । छायातपाभ्यां दृष्टान्ताद्धीजीवौ स्तो विलक्षणौ ॥५॥
पिबन्ताविति चैतन्यं द्वयोर्जीवेश्वरौ ततः । हृत्स्थानमुपलब्ध्यै स्याद्वैलक्षण्यमुपाधितः ॥६॥

---

१३. अत्रधिकरण

१. संगति—पहले ब्रह्म में भोक्तृत्व का अभाव कहा था, वैसे ही यहाँ पर ब्रह्म में पुतृत्व का अभाव भी कहा जा रहा है, अतः पूर्व के साथ इस अधिकरण की दृष्टान्त संगति है।

२. विषय—'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः' क० १-२-२८) इस कठ श्रुति में कोई अत्ता सुना जाता है वही यहाँ पर विचारणीय विषय है।

३. संशय—इस श्रुति में जीव, अग्नि या ईश्वर अत्ता कहा गया है?

४. पूर्वपक्ष—ओदन जीव को इष्ट है और "स्वाद्वत्ति" ऐसा श्रुति भी वहाँ है, अतः जीवात्मा को अत्ता मानना चाहिए। अथवा अग्नि को अत्ता मानिये, क्योंकि 'अग्निरन्नादः' (बृ० १-४-६) ऐसी श्रुति है, एवं प्रसिद्धि भी है।

५. सिद्धान्त—ब्राह्मण, क्षत्रिय इत्यादि सम्पूर्ण जगत् जिसका भोज्य हो ऐसा ईश्वर ही भोक्ता हो सकता है। ईश्वर के विषय में प्रश्न का उत्तर यहाँ दिया जा रहा है एवं अत्तृता का संहार अर्थ यहाँ पर लेना उचित होगा, अतः परमात्मा ही इस श्रुति में भोक्तारूप से कहा गया है।

१४. गुहाधिकरण

१. संगति—जिस प्रकार पूर्वाधिकरण में ब्रह्म एवं क्षत्र पद मृत्यु पद की सन्निधि में होने के कारण अनित्यवस्तुपरक कहा था, वैसे ही 'पिबत्' शब्द के सन्निहित 'गुहाप्रवेशादि' होने के कारण बुद्धि और जीवपरक मानना चाहिए, ऐसी दृष्टान्त संगति के कारण इस अधिकरण का प्रारम्भ हुआ है।

२. विषय—'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे' (क० १-३-१) यह कठ श्रुति इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—क्या यहाँ पर गुहा में प्रविष्ट बुद्धि और जीव कहे गये हैं अथवा जीवात्मा और परमात्मा कहे गये हैं?

४. पूर्वपक्ष—छाया और धूप के समान परस्पर विलक्षण जड़ बुद्धि और चेतन जीवात्मा ही गुहा में प्रविष्ट कहे गये हैं।

५. सिद्धान्त—जीव और परमात्मा यहाँ पर गुहा प्रविष्ट पदार्थ मानना चाहिए क्योंकि 'पिबन्तौ' ऐसा द्विवचन का प्रयोग होने से यदि एक जीव चैतन्य है, तो दूसरा चैतन्य ईश्वर मानना उचित होगा। हृदय में उसकी उपलब्धि होती है इसीलिए उसे हृदयस्थ कहा गया है। उपाधि के कारण ईश्वर में परस्पर वैलक्षण्य बताना भी सम्भव हो जाता है। अतः चेतन जीवात्मा एवं परमात्मा ही गुहाप्रविष्ट पदार्थ यहाँ मानना चाहिए।

(१५) अन्तराधिकरणम् ॥४॥

छायाजीवौ देवतेशौ वाऽसौ योऽक्षिणि दृश्यते । आधारदृश्यतोक्त्येशादन्येषु त्रिषु कश्चन ॥७॥
कं खं ब्रह्म यदुक्तं प्राक्तदेवाक्षिण्युपास्यते । वामनीत्वादिनाऽन्येषु नामृतत्वादिसंभवः ॥८॥

(१६) अन्तर्याम्यधिकरणम् ॥५॥

प्रधानं जीव ईशो वा कोऽन्तर्यामी जगत्प्रति । कारणत्वात्प्रधानं स्याज्जीवो वा कर्मणो मुखात् ॥९॥
जीवैकत्वामृतत्वादेरन्तर्यामी परेश्वरः । द्रष्टृत्वादेर्न प्रधानं न जीवोऽपि नियम्यतः ॥१०॥

---

१५. अन्तराधिकरण

१ सङ्गति—पूर्वाधिकरण में जिस प्रकार प्रथम "पिबन्तौ" यह पदगत द्वित्व होने से जीव और परमेश्वर में चेतनत्वेन सादृश्य मानकर 'गुहाप्रवेशादि' चरमश्रुति को जीवपरमेश्वरपरक माना था, वैसे ही यहाँ पर 'दृश्यते' इस प्रथमप्रत्यक्षत्वकथन से नेत्र में प्रतिबिम्बबोध के अनुरोध से अमृतत्वादि' चरमश्रुति को स्तावक मानना चाहिए। इस प्रकार दृष्टान्त सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया।

२- विषयः—छान्दोग्य की उपकोशलविद्या में 'य एषो ऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते, एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति' (छा० ४-१५-१) ऐसी श्रुति है, वही यहाँ पर विचारणीय है।

३. संशय—क्या नेत्राधिकरणक निर्दिष्टतत्त्व प्रतिबिम्बादि हैं अथवा परमात्मा है? ऐसा संशय होता है।

४. पूर्वपक्ष—आधार एवं दृश्यता का कथन होने से ईश्वर को छोड़कर अन्य छाया, जीवात्मा अथवा देवता-इन तीनों में से कोई एक अक्षिस्थपुरुष हो सकता है।

५. सिद्धान्त—'कं ब्रह्म खं ब्रह्म' (सुख ब्रह्म है और विभु ब्रह्म है) ऐसा जिसे पहले कहा जा चुका है वही यहाँ पर नेत्र में वामनत्वादि धर्म में उपास्य कहा गया है। परमेश्वर को छोड़कर छायादि तीनों ही पदार्थों में अमृतत्वादि का होना सम्भव नहीं।

१६. अन्तर्याम्यधिकरण

१. संगति—पूर्वाधिकरण में 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्' (बृ० ३-७-२) इत्यादि अन्तर्यामीब्राह्मण के अन्तर्गत 'यः चक्षुषि तिष्ठन्' इत्यादि वाक्य को उदाहरण के रूप में रखकर 'स्थानादिव्यपदेशाच्च' इस सूत्र में अन्तर्यामी को ब्रह्म कहा था। अब उस पर आक्षेप उठाकर समाधान देने के लिए इस अधिकरण का आरम्भ हुआ है। अतः पूर्व के साथ इसको आक्षेप संगति है।

२. विषय—बृहदारण्यक अन्तर्यामिब्राह्मण में 'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष ते आत्माऽन्तर्याम्यमृतः' (बृ० ३-७-२) इत्यादि वाक्य है, इसी का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—यहाँ पर अन्तर्यामी प्रधान है अथवा अणिमादि ऐश्वर्य प्राप्त कोई योगीपुरुष है?

४. पूर्वपक्ष—जगत का कारण होने से प्रधान उसका नियामक हो सकता है अथवा कर्म की प्रधानता से जीवात्मा भी जगन्नियन्ता सम्भव है।

५ सिद्धान्त—जीव के साथ एकत्व एवं अमृतत्वादि अन्तर्यामी के धर्म कहे गये हैं जो ईश्वर में ही सम्भव हैं। द्रष्टृत्वादि अचेतन प्रधान के गुण नहीं हो सकते और जीव भी नियम्य है, वह अपना नियामक नहीं हो सकता। अतः यहाँ पर परमात्मा ही अन्तर्यामीरूप से उपास्य कहा गया है।

(१७) अदृश्यत्वाधिकरणम् ॥६॥

भूतयोनिः प्रधानं वा जीवो वा यदि वेश्वरः । आद्यौ पक्षावुपादाननिमित्तत्वाभिधानतः ॥११॥
ईश्वरो भूतयोनिः स्यात्सर्वज्ञत्वादिकीर्तनात् । दिव्याद्युक्तेर्न जीवः स्यान्न प्रधानं भिदोक्तितः ॥१२॥

(१८) वैश्वानराधिकरणम् ॥७॥

वैश्वानरः कौक्षभूतदेवजीवेश्वरेषु कः । वैश्वानरात्मशब्दाभ्यामीश्वरान्येषु कश्चन ॥१३॥
द्युमूर्धत्वादितो ब्रह्मशब्दाच्चेश्वर इष्यते । वैश्वानरात्मशब्दौ तावीश्वरस्यापि वाचकौ ॥१४॥

(इति प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः)

---

१७. अदृश्यत्वाधिकरण

१. संगति—पूर्वाधिकरण में जिस प्रकार प्रधानविरोधी द्रष्टृत्वादि धर्म होने से प्रधान में अन्तर्यामित्व सिद्ध न हो सका, वैसा यहाँ पर मुण्डक श्रुति में प्रधानविरोधी धर्म नहीं सुना जाता है। अतः अदृश्यत्वादि गुणवाला भूतों की योनि प्रधान हो है, ऐसा प्रत्युदाहरण संगति के कारण इस अधिकरण का आरम्भ हुआ है।

२. विषय—"यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः" (मु० १-१-६) इत्यादि मुण्डक श्रुति इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—भूतयोनि प्रधान है, जीवात्मा है अथवा परमात्मा है ? ऐसा संशय होता है।

४. पूर्वपक्ष—उपादान होने से प्रधान भूतयोनि हो सकता है और निमित्त कारण होने से जीवात्मा भी भूतयोनि हो सकता है। अतः इन दोनों में से कोई भी अर्थ लिया जा सकता है।

५. सिद्धान्त—सर्वज्ञत्वादि धर्म के कथन से भूतयोनि का परमात्मा अर्थ लेना ही उचित होगा। 'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः' (मु० २-१-२) ऐसा दिव्यत्वादि के कथन से जीव नहीं और 'अक्षरात्परतः परः' इस वाक्य में प्रधान से भिन्न, भूतयोनि को कहा है। अतः प्रधान भी भूतयोनि नहीं है. किन्तु परमात्मा ही इस श्रुति में भूतयोनि से कहा गया है।

१८. वैश्वानराधिकरण

१. संगति—पूर्वाधिकरण में प्रारम्भिक अदृश्यत्वादि साधारण धर्म को वाक्यशेषस्थ सर्वज्ञत्वादि लिङ्ग के आधार पर जैसे ब्रह्मपरक माना गया था, वैसे ही यहाँ भी उपक्रमस्थ वैश्वानर शब्द को वाक्यशेषस्थ होमाधिकरणत्वलिङ्ग के आधार पर जाठराग्निपरत्व मानना चाहिए। इस प्रकार दृष्टान्त संगति के कारण वैश्वानराधिकरण की रचना हुई।

२. विषय—वैश्वानरतत्त्व इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—छान्दोग्य को वैश्वानरविद्या में कहा गया द्युमूर्धादि भाव वाला तत्त्व वैश्वानर जाठराग्नि है, भूताग्नि है, आदित्यादि देवता है, जीवात्मा है अथवा परमात्मा है ?

४. पूर्वपक्ष—वैश्वानर एव आत्मा शब्द का प्रयोग होने से ईश्वर से भिन्न कोई भी पदार्थ ग्रहण किया जा सकता है।

५. सिद्धान्त—'मूर्धत्वादि' श्रुति को देखते हुए और ब्रह्म शब्द का प्रयोग होने से भी परमेश्वर ही वैश्वानर पद का अर्थ लेना यहाँ पर उचित होगा। ईश्वर के लिए भी शास्त्रों में वैश्वानर एवं आत्म शब्द का प्रयोग बहुधा देखा जाता है।

।। अथ तृतीयः पादः ।।

(२०) द्युभ्वाद्यधिकरणम् ।।१।।

सूत्रं प्रधानं भोक्त्रेशो द्युभ्वाद्यायतनं भवेत् । श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धिभ्यां भोक्तृत्वाच्चेश्वरेतरः ।।१।।
नाऽऽद्यौ पक्षावात्मशब्दान्न भोक्ता मुक्तगम्यतः । ब्रह्मप्रकरणादीशः सर्वज्ञत्वादितस्तथा ।।२।।

(२१) भूमाधिकरणम् ।।२।।

भूमा प्राणः परेशो वा प्रश्नप्रत्युक्तिवर्जनात् । अनुवर्त्यातिवादित्वं भूमोक्तेश्चासुरेव सः ।।३।।

प्रथमाध्याय—तृतीय पाद

इस तृतीय पाद में ज्ञेयब्रह्मविषयक अस्पष्टब्रह्मलिङ्ग वाली श्रुतियों का विचार किया गया है।

१९. द्युभ्वाद्यधिकरण

१. संगति– पिछले अधिकरण में त्रैलोक्य आत्मा वैश्वानर परमात्मा कहा गया था, तब तो तीनों लोकों का आयतनतत्त्व परमात्मा से कोई भिन्न ही होगा; ऐसा आक्षेप होने पर उसका समाधान देने के लिए यह अधिकरण प्रारम्भ होता है। अतः पूर्व अधिकरण के साथ इसकी आक्षेप संगति है।

२. विषय—'यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः । तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः ।।' (मु० २-२-५) यह वाक्य इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—द्युलोकादि का आयतन प्रधान है, जीव है अथवा परमात्मा है? ऐसा संशय होता है।

४ पूर्वपक्ष—स्मृति प्रसिद्ध प्रधान जगत् का कारण होने से सबका आयतन कहा गया है, अथवा भोक्ता होने से भोग्यप्रपञ्च का आयतन जीव को मानना चाहिए।

५. सिद्धान्त—द्युलोक, भूलोक आदि का आयतन परमात्मा ही हो सकता है, प्रधान या जीव नहीं हो सकते, क्योंकि उसके लिए ही आत्म शब्द का प्रयोग है। मुक्तपुरुषों का गन्तव्य प्रधान या जीव नहीं हो सकता। साथ ही ब्रह्म का प्रकरण चल रहा है, जिसे सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान माना है। अतः द्युलोकादि का आयतन परमात्मा ही है, अन्य नहीं।

२०. भूमाधिकरण

१. संगति—पिछले अधिकरण में आत्म शब्द का प्रयोग होने से द्युलोकादि का आयतन परमात्मा माना गया था, वह ठीक नहीं है; क्योंकि 'तरति शोकमात्मवित्' (छा० ७-१-३) इस प्रकरण में प्रश्नोत्तर की परम्परा प्राण से आगे न दिखाई पड़ने के कारण प्राण में भी आत्म शब्द का प्रयोग सम्भव हो सकता है। ऐसा आक्षेप होने पर इस अधिकरण का प्रारम्भ हुआ है, इसलिए पूर्व के साथ इसकी आक्षेप संगति है।

२. विषय—'भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः' इति 'भूमानं भगवो विजिज्ञास' इति। 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा' (छा० ७-२३, २४) यह श्रुतिवाक्य यहाँ का विचारणीय विषय है।

३. संशय—भूमा शब्द का अर्थ प्राण है या परमात्मा? ऐसा संशय होता है।

४. पूर्वपक्ष—नाम से लेकर आशापर्यन्त प्रश्नोत्तर देखा गया है, उसके आगे प्रश्नोत्तर नहीं दीखते। अतः अनुगत अतिवादित्व भूमा में कहे जाने के कारण भूमा शब्दार्थ वायु ही है।

विच्छिद्यैष त्विति प्राणं सत्यस्योपक्रमात्तथा । महोपक्रम आत्मोक्तेरीशोऽयं द्वैतवारणात् ॥४॥

(२१) अक्षराधिकरणम् ॥३॥

अक्षरं प्रणवः किंवा ब्रह्म लोकेऽक्षराभिधा । वर्णे प्रसिद्धा तेनात्र प्रणवः स्यादुपास्तये ॥५॥
अव्याकृताधारतोक्तेः सर्वधर्मनिषेधतः । शासनाद् द्रष्टृतादेश्च ब्रह्मैवाक्षरमुच्यते ॥६॥

(२२) ईक्षतिकर्मव्यपदेशाधिकरणम् ।४॥

त्रिमात्रप्रणवे ध्येयमपरं ब्रह्म वा परम् । ब्रह्मलोकफलोक्त्यादेरपरं ब्रह्म गम्यते ॥७॥
ईक्षतव्यो जीवघनात्परस्तत्प्रत्यभिज्ञया । भवद्ध्येयं परं ब्रह्म क्रममुक्तिः फलिष्यति ॥८॥

---

५. सिद्धान्त— 'एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति' (छा० ७-१६) इस वाक्य द्वारा प्राण का प्रकरण पृथक् कर सत्य का प्रसंग प्रारम्भ होने से परमात्मा ही भूमा पद का अर्थ है। वैसे ही महोपक्रम परमात्मा का है। समस्त द्वैत का अभाव भी परमात्मा में ही होता है। अतः भूमा पद का अर्थ परमात्मा ही निश्चित है।

२१. अक्षराधिकरण

१. संगति—जिस प्रकार पिछले अधिकरण में ब्रह्म में सत्य शब्द रूढ़ होने के कारण भूमा का अर्थ ब्रह्म माना था, वैसे ही यहाँ भी अक्षर शब्द वर्ण अर्थ में रूढ़ होने के कारण वर्ण ही अक्षर हो सकता है। इस प्रकार दृष्टान्त संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ होता है।

२. विषय—'स होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ! ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमिति' (बृ० ३-८-७, ८) यह वाक्य यहाँ पर विचारणीय है।

३. संशय—अक्षर शब्द से वर्ण अर्थ को कहा गया है अथवा परमात्मा ? ऐसा संशय होता है।

४. पूर्वपक्ष—अक्षर नाम वर्ण में प्रसिद्ध है। अतः यहाँ पर उपासना के लिए अक्षर का अर्थ प्रणवाक्षर करना चाहिए।

५. सिद्धान्त—पृथ्वी से लेकर अव्याकृतपर्यन्त समस्त जगत् का आधार होने से, सम्पूर्ण धर्मों का निषेध होने से, शासनकर्ता और द्रष्टृत्वादि चैतन्यधर्म को देखने से भी ब्रह्म ही अक्षर शब्द का अर्थ मानना ठीक है।

२२. ईक्षतिकर्मव्यपदेशाधिकरण

१. संगति—पिछले अधिकरण में वर्ण अर्थ में रूढ़ अक्षर शब्द का भी अर्थ ब्रह्म इसलिए किया गया क्योंकि अम्बरान्त जगत् का धारण करना रूपलिङ्ग और 'न क्षरति अश्नुते वा' ऐसी व्युत्पत्ति भी मिलती है, ठीक वैसे ही यहाँ पर भी देशपरिच्छिन्नफलश्रुतिलिङ्ग को देखते हुए पर शब्द आपेक्षिकपरत्वविशिष्ट हिरण्यगर्भपरक लेना चाहिए। ऐसी दृष्टान्त संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ होता है।

२ विषय—'यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्यनेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत' (प्र० ५-५) यह वाक्य यहाँ पर विचारणीय है।

३. संशय—इस श्रुति में परब्रह्म ध्येय है अथवा अपरब्रह्म ? ऐसा संशय होता है।

४. पूर्वपक्ष—'स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकमिति' (प्र० ५-५) ऐसे देशपरिच्छिन्नफल का कथन होने से अपरब्रह्म ही ध्येय मानना चाहिए।

५. सिद्धान्त——ध्यातव्यरूप से परब्रह्म का ही यहाँ पर उपदेश है, जो जीवघन से पर है, साथ ही ध्यान का कर्म अथवा भूतपदार्थ भी हो सकता है; किन्तु सम्यग्दर्शन का विषयभूत कर्म ब्रह्म ही है। पुरुष और पर शब्द से उसी ध्येय की प्रत्यभिज्ञा भी होती है, परिच्छिन्न फल तो क्रममुक्ति के अभिप्राय से कहा गया है जो विरुद्ध नहीं है।

२३. दहराधिकरणम् ॥५॥

दहरः को वियज्जीवो ब्रह्म वाऽऽकाशशब्दता । वियत्स्यादथवाऽल्पत्वश्रुतेर्जीवो भविष्यति ॥९॥
बाह्याकाशोपमानेन द्युभूम्यादिसमाहितेः । आत्माऽपहतपाप्मत्वात्सेतुत्वाच्च परेश्वरः ॥१०॥

२४. प्राजापत्यविद्याधिकरणम् ॥६॥

यः प्रजापतिविद्यायां स किं जीवोऽथवेश्वरः । जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तोक्तेस्तद्वाञ्जीव इवोचितः ॥११॥
आत्माऽपहतपाप्मेति प्रक्रम्यान्ते स उत्तमः । पुमानित्युक्त ईशोऽत्र जाग्रदाद्यवबुद्धये ॥१२॥

२५. अनुकृत्यधिकरणम् ॥७॥

न तत्र सूर्यो भातीति तेजोन्तरमुतात्र चित् । तेजोभिभावकत्वेन तेजोन्तरमिदं महत् ॥१३॥

---

२३. दहराधिकरण

१. संगति—पिछले अधिकरण में परपुरुष शब्द ब्रह्म अर्थ में रूढ़ होने के कारण ब्रह्म ही उपास्य कहा गया था, वैसे ही यहाँ पर आकाश शब्द भूताकाश में रूढ़ होने के कारण उसी को उपास्य क्यों न माना जाय? ऐसी आक्षेप संगति होने पर यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२. विषय—'अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्'(छा० ८-१-१) यह वाक्य यहाँ पर विचारणीय विषय है।

३. संशय—दहर पुण्डरीक में कहा गया दहराकाश क्या भूताकाश है, जीव है अथवा परमात्मा है ? ऐसा संशय होता है।

४. पूर्वपक्ष—भूतकाश में रूढ़ होने के कारण भूताकाश ही दहरपदवाच्य मानना चाहिए, अथवा उपाधिपरिच्छिन्न होने के कारण जीव भी दहरपदवाच्य माना जा सकता है।

५. सिद्धान्त—बाह्याकाश की उपमा दहराकाश के लिए दी गयी है और जो द्युलोक भूलोक का आधार भी है। अपहतपाप्मत्व एवं सेतुत्व विशेषण को भी देखते हुए दहराकाश का सुनिश्चित अर्थ परमात्मा ही है।

२४. प्राजापत्यविद्याधिकरण

१. सङ्गति—पिछले अधिकरण में कहे गये असम्भव हेतु पर आक्षेप उठा कर इस अधिकरण में समाधान दिया गया है। अतः पिछले अधिकरण के साथ इसकी आक्षेप संगति है।

२. विषय—'य आत्माऽपहतपाप्मा' (छा० ८-७-१)प्रजापति का यह वाक्य ही इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—जाग्रदादि अवस्था सेयुक्त जीव अपहतपाप्मा कहा गया है अथवा ब्रह्म ? ऐसा संशय होता है।

४. पूर्वपक्ष—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्था वाले जीव का ही इस प्रसंग में निरूपण मानना उचित होगा।

५. सिद्धान्त—'य आत्मा अपहतपाप्मा' इस प्रसंग के अन्त में 'स उत्तमः पुरुषः' ऐसा कहा गया है, अतः ईश्वर इस प्रसग का प्रतिपाद्यतत्त्व निश्चित होता है, जो जीव का निष्कृष्ट स्वरूप है, उसी स्वरूप के बोध के लिए जीव की जाग्रदादि अवस्थाओं का वर्णन किया गया है।

२४. अनुकृत्यधिकरण

१. संगति—पिछले अधिकरण में 'परं ज्योतिरूपसम्पद्य' (परम ज्योति को प्राप्तकर) इस वाक्य-शेष से दहराकाश का अर्थ ब्रह्म किया गया था। तब ज्योति का प्रसंग होने से अब 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा: विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः' (मु० २-२-१०)यह वाक्य विचारणीय हो जाता है। इस प्रसंग संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

चित्स्यात्सूर्यावभास्यत्वात्ताहक्तेजोप्रसिद्धितः । सर्वास्मात्पुरतो भानात्तद्भासा चानुभासनात् ॥१४॥

२६. प्रमिताधिकरणम् ॥८॥

अङ्गुष्ठमात्रो जीवः स्यादीशो वाऽल्पप्रमाणतः । देहमध्ये स्थितेश्चात्र जीवो भवितुमर्हति ॥१५॥
भूतभव्येशता जीवे नास्त्यतोऽसाविहेश्वरः । स्थितिप्रमाणे ईशेऽपि स्ता हृद्यस्योपलब्धितः ॥१६॥

२७. देवताधिकरणम् ॥९॥

नाधिक्रियन्ते विद्यायां देवाः किंवाऽधिकारिणः । विदेहत्वेन सामर्थ्यहानेर्नैवास्ति विक्रिया ॥१७॥

---

२. विषय—'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः' यह वाक्य इस अधिकरण का विचारणीय विषय है ।

३. संशय—सूर्यादि सम्पूर्ण जगत के प्रकाशकरूप से प्रतीत होने वाला तेज कोई धातुविशेष है अथवा परमात्मा ? ऐसा संशय होता है ।

४. पूर्वपक्ष—प्रबल तेज से दुर्बल तेज का अभिभव देखा गया है, अतः कोई धातुविशेष ही तेज शब्द से कहा गया है ।

५. सिद्धान्त—सूर्यादि जगत् के अवभासक रूप से जाना गया तेज ब्रह्म ही है, क्योंकि उसी का अनुकरण अन्य सभी तेज कर रहे हैं। ब्रह्म के अतिरिक्त सूर्य के समान अन्य कोई तेज प्रसिद्ध नहीं है जो सूर्यादि का भी प्रकाशक माना जा सके। अतः चेतन आत्मा ही सूर्यादि का अवभासक है जो सूर्यादि से प्रकाशित नहीं होता है, किन्तु उसी ब्रह्मतेज से सूर्यादि तेज का प्रकाश होता है, ऐसा 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (क० २-२-१५) इस श्रुति और 'यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्' (गी० १५-१२) इस स्मृतिवाक्य से सभी सूर्यादि तेज का अवभासक ब्रह्मचैतन्य ही सिद्ध होता है ।

२६. प्रमिताधिकरण

१. संगति—पूर्व अधिकरण के निर्णीत विषय को दृष्टान्त मानकर इस अधिकरण का उत्थापन हुआ है, इसलिए पूर्व के साथ इसकी दृष्टान्त संगति है ।

२. विषय—'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्ये आत्मनि तिष्ठति', 'अङ्गुष्ठमात्र पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः । ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः ॥' (क० २-४-१२,१३) इत्यादि वाक्य इसका विचारणीय विषय है ।

३. संशय—क्या अङ्गुष्ठमात्र पुरुष जीव है अथवा ईश्वर है ? ऐसा संशय होता है ।

४. पूर्वपक्ष—अल्पपरिणाम एवं शरीर के मध्य स्थिति को देखते हुए अङ्गुष्ठमात्र पुरुष को जीव ही मानना चाहिए ।

५. सिद्धान्त—भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान का शासक जीव नहीं हो सकता, किन्तु ईश्वर ही हो सकता है। शरीरमध्यवर्ती हृदय में ईश्वर की भी उपलब्धि होती है, अतः उपलब्धि की दृष्टि से ईश्वर को भी अल्पपरिमाण और शरीर के मध्य में स्थित माना जा सकता है ।

२७. देवताधिकरण

१. संगति—पूर्व अधिकरण में ब्रह्मविद्या में मनुष्य का अधिकार बतलाया गया; तब तो मनुष्य से भिन्न देवादि का उनमें अधिकार नहीं माना जा सकता, ऐसा आक्षेप उठाकर समाधान देने के लिए अथवा अधिकार प्रसंग से देवताओं का भी ब्रह्मविद्या में अधिकार बतलाने के लिए इस अधिकरण का प्रारम्भ होता है । इसलिए इस अधिकरण की आक्षेप संगति अथवा प्रसंग संगति कही जाती है ।

अविरुद्धाज्ञातवादिमन्त्रादेर्देहसत्त्वतः । अर्थित्वादेश्च सौलभ्याद्देवाद्या अधिकारिणः ॥१८॥

२८. अपशूद्राधिकरणम ॥१०॥

शूद्रोऽधिक्रियते वेदविद्यायामथवा नहि । अत्रैवर्णिकदेवाद्या इव शूद्रोऽधिकारवान् ॥१९॥
देवाः स्वयंभातवेदाः शूद्रोऽध्ययनवर्जनात् । नाधिकारी श्रुतौ स्मार्ते त्वधिकारो न वार्यते ॥२०॥

२९. कम्पनाधिकरणम् ॥११॥

जगत्कम्पनकृत्प्राणोऽशनिर्वायुरुतेश्वरः । अशनिर्भयहेतुत्वाद्वायुर्वा देहचालनात् ॥२१॥

---

२. विषय--'इन्द्रो ह वै देवानामभिप्रवव्राज' (छा० ८-७-२) 'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्' (बृ० १-४-१०) इत्यादि वाक्य इस अधिकरण के विचारणीय विषय हैं।

३. संशय--क्या देवादि का ब्रह्मविद्या में अधिकार है, अथवा नहीं ? ऐसा संशय होता है।

४. पूर्वपक्ष--शरीरधारी न होने के कारण देवता शक्तिहीन हैं, अतः उनका ब्रह्मविद्या में अधिकार नहीं है।

५. सिद्धान्त--अविरुद्ध अर्थवाद आदि मन्त्रों से देवता भी शरीरधारी सिद्ध होते हैं।' कारण-सहित दुःखों से छूटकर परमानन्द प्राप्ति की इच्छा देवादियों में भी सुलभ है। अतः शरीर एवं सामर्थ्य की सिद्धि हो जाने पर देवादि भी ब्रह्मविद्या के अधिकारी हैं।

२८. अपशूद्राधिकरण

१. संगति--श्रुति में देवादि सुने जाने से जैसे ब्रह्मविद्या में उनका अधिकार कहा गया, वैसे ही श्रुति में शूद्र शब्द का श्रवण होने से शूद्र का भी ब्रह्मविद्या में अधिकार है, ऐसे पूर्व अधिकरण के निर्णीत विषय को दृष्टान्त बनाकर इसका उत्थापन हुआ है। इसलिए पूर्व के साथ इसकी दृष्टान्त संगति है।

२. विषय--'अहहारे त्वा शूद्र ? तवैव सह गोभिरस्तु' (छा० ४-२-३) यह वाक्य इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय--क्या वेदविद्या में शूद्र का अधिकार है, या नहीं ? ऐसा संशय होता है।

४. पूर्वपक्ष--त्रैवर्णिक से भिन्न होने पर भी जैसे देवादि ब्रह्मविद्या के अधिकारी हैं वैसे ही शूद्र भी अधिकारी माना जायेगा।

५. सिद्धान्त--देवादियों को वेद का ज्ञान जन्मसिद्ध होता है और विद्या का फल भी उन्हें अभीष्ट है, अतः वे वेदविद्या में अधिकारी माने जाते हैं; किन्तु वेदाध्ययन शूद्रों के लिए निषिद्ध होने के कारण विद्याफलाकांक्षा उनमें रहने पर भी वेदोक्त ज्ञान में उनका अधिकार नहीं। श्रुति एवं स्मृति में उनके वेदाध्ययन का निषेध भी किया गया है।

२९. कम्पनाधिकरण

१. संगति--पिछले प्रमिताधिकरण में जैसे ब्रह्मज्ञान के लिए जीव का अनुवाद कहा गया है वैसा यहाँ पर 'यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम् । महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते-भवन्ति' (क० २-६-२) इस कठ श्रुतिवाक्य में प्राणानुवाद मानना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि वह कल्पित है, इसीलिए उसका स्वरूपतः ब्रह्म के साथ अभेद नहीं हो सकता; ऐसी प्रत्युदाहरण संगति इसकी है।

२. विषय--'यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्' इत्यादि श्रुतिवाक्य इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

वेदनादमृतत्वोक्तेरीशोऽन्तर्यामिरूपतः । भयहेतुश्चालनं तु सर्वशक्तियुतत्वतः ॥२२॥

३०. ज्योतिरधिकरणम् ॥१२॥

परं ज्योतिस्तु सूर्यस्य मण्डलं ब्रह्म वा भवेत् । समुत्थायोपसंपद्येत्युक्त्या स्याद्रविमण्डलम् ॥२३॥
समुत्थानं त्वंपदार्थशुद्धिर्वाक्यार्थबोधनम् । सपत्तिरुत्तमत्वोक्तेर्ब्रह्म स्यादस्य साक्षितः ॥२४॥

३१. अर्थान्तरव्यपदेशाधिकरणम् ॥१३॥

वियद्वा ब्रह्म वाऽऽकाशो वै नामेति श्रुतं, वियत् । अवकाशप्रदानेन सर्वनिर्वाहकत्वतः ॥२५॥

---

३. संशय—जगत् को कंपानेवाला क्या प्राणपदवाच्य वायु है, विद्युत है, अथवा ईश्वर है ? ऐसा संशय होता है।

४. पूर्वपक्ष—भय का कारण होने से, विद्युत अथवा देह का चालक होने से वायु प्राणपदवाक्य माना जा सकता है।

५. सिद्धान्त—जिसके ज्ञान से अमरत्व की प्राप्ति कही जाती है, जो अन्तर्यामीरूप से सबका नियामक होने के कारण भय का हेतु है और सर्वशक्ति से युक्त होने के कारण सबका प्रेरक है; ऐसा ईश्वर ही प्राण शब्द का सुनिश्चित अर्थ है, विद्युत या वायुविकार नहीं।

३०. ज्योतिरधिकरण

१. संगति—पिछले अधिकरण में सर्व शब्द श्रुति का संकोच असंगत होने के कारण प्रकरण को देखते हुए जैसे प्राण शब्द का अर्थ ब्रह्म किया था, वैसा सम्प्रसादवाक्य में प्रकरणानुग्राहक कोई प्रमाण नहीं है जिससे ज्योतिशब्दवाच्य ब्रह्म को माना जाय ऐसी प्रत्युदाहरण संगति यहां पर मानी गयी है।

२. विषय—'एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाऽभिनिष्पद्यते' (छा० ८-१२-३) इत्यादि वाक्य इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—क्या इस वाक्य में ज्योतिशब्दवाच्य आदित्यादि तेज है, अथवा परब्रह्म है ? ऐसा संशय होता है।

४ पूर्वपक्ष—रूढ़ होने के कारण आदित्यादि तेज को ही ज्योतिशब्दवाच्य मानना चाहिए साथ ही 'समुत्थायोपसम्पद्य' ऐसी युक्ति होने से सूर्यमण्डल ही ज्योति शब्द का अर्थ है।

५. सिद्धान्त—त्वम् पदार्थ का शुद्धि समुत्थान पद का अर्थ है और वाक्यार्थबोध सम्पत्ति पद का अर्थ है। अतः यहां पर ज्योति पद का सुनिश्चित अर्थ ब्रह्म है क्योंकि वही उत्तम पुरुष है और वही नेत्र का साक्षी भी है।

३१. अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशाधिकरण

१. संगति—पूर्व अधिकरण में उत्क्रमादि को देखते हुए अर्थान्तर में प्रसिद्ध ज्योतिः शब्द का भी ब्रह्म अर्थ किया गया था, वैसे ही आकाश उत्क्रमादि को देखते हुए ब्रह्मादि शब्द भी स्वार्थ से भिन्नारक माना जायेगा, ऐसी दृष्टान्त संगति के कारण इस अधिकरण का उत्थापन हुआ है।

२. विषय—'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृत स आत्मा' (छा० ८-१४-१) यह वाक्य इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—क्या यहां पर आकाश शब्द का अर्थ भूताकाश है, अथवा परब्रह्म है ? ऐसा संशय होता है।

निर्वोढृत्वं नियन्तृत्वं चैतन्यस्यैव तत्त्वतः । ब्रह्म स्याद्वाक्यशेषे च ब्रह्मात्मेत्यादिशब्दतः ॥२६॥

३२. सुषुप्त्युत्क्रान्त्यधिकरणम् ॥१४॥

स्याद्विज्ञानमयो जीवो ब्रह्म वा जीव दृश्यते । आदिमध्यावसानेषु संसारप्रतिपादनात् ॥२७॥
विविच्य लोकसंसिद्धं जीवं प्राणाद्युपाधितः । ब्रह्मत्वमन्यतोऽप्राप्तं बोध्यते ब्रह्म नेतरत् ॥२८॥

३३. आनुमानिकाधिकरणम् ॥१॥

महतः परमव्यक्तं प्रधानमथवा वपुः । प्रधानं सांख्यशास्त्रोक्ततत्त्वानां प्रत्यभिज्ञया ॥१॥

---

४. पूर्वपक्ष—अवकाश देकर सम्पूर्ण जगत् का निर्वाहक होने से भूताकाश ही आकाश पद का अर्थ मानना चाहिए।

५. सिद्धान्त—निर्वाहकत्व और नियामकत्व चैतन्य में ही हो सकते हैं, साथ ही वाक्यशेष में 'ब्रह्मात्मा' ऐसा शब्द भी मिलता है। इन सभी कारणों से यहाँ पर आकाश शब्द का सुनिश्चित अर्थ ब्रह्म ही होगा।

३२. सुषुप्त्युत्क्रान्त्यधिकरण

१. संगति—पिछले अधिकरण में नामरूप से भिन्नत्व का कथन होने से आकाश शब्द भूताकाश नहीं माना था, किन्तु प्राज्ञ आत्मा के साथ जीव का सम्परिष्वक्त होना कहा गया है जिससे अभिन्न होने पर भी औपचारिक भेद माना जा सकता है; ऐसा आक्षेप उठाकर इस अधिकरण में समाधान दिया गया है। अतः पूर्व के साथ इसकी आक्षेप संगति है।

२. विषय—'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' (बृ० ४-३-७) इत्यादि वाक्य इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—क्या यह वाक्य जीवानुवादपरक है अथवा जीवानुवाद कर संसारधर्मातीत ब्रह्म-स्वरूप का प्रतिपादक है? ऐसा संशय होता है।

४. पूर्वपक्ष—उपक्रम-उपसंहार को देखते हुए संसारी-जीव अर्थ का बोधक ही विज्ञानमय शब्द माना जा सकता है।

५. सिद्धान्त—प्राणादि उपाधिवाला जीवात्मा जो लोकतः सिद्ध है, उससे पृथक् कर ब्रह्म का प्रतिपादन इस श्रुति में किया गया है। जो किसी प्रमाण से प्राप्त नहीं है ऐसा ब्रह्म ही विज्ञानमय पद का सुनिश्चित अर्थ है, अन्य नहीं।

प्रथमाध्याय—चतुर्थ पाद

अव्यक्त, अजा इत्यादि पद प्रधान अर्थ के वाचक भी हो सकते हैं, ऐसे सदिग्ध पदों का विचार इस चतुर्थ पाद में किया गया है। पहले 'ईक्षत्यधिकरण' (वे० १-१ ५) में गतिसामान्य और अशब्दत्व की जो प्रतिज्ञा की गयी थी उनमें से ब्रह्म में वेदान्त के गतिसामान्य का निरूपण अब तक के तीन पादों द्वारा किया गया, अब प्रधान के अशब्दत्व का आक्षेपकर समाधान देने के लिए यह चतुर्थ पाद प्रारम्भ किया जा रहा है। अतः पूर्वग्रन्थ के साथ इस चतुर्थ पाद की आक्षेप संगति है।

३३. आनुमानिकाधिकरण

१. संगति—पूर्व अधिकरण में प्रसिद्ध जीववाचक शब्द का अप्रसिद्ध ब्रह्म अर्थ किया गया था, ऐसे ही श्रुति में अप्रसिद्ध प्रधान को ही 'महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः' (क० १-३-११) इत्यादि से कठवाक्य बतलायेगा; अतः पूर्व के साथ इसकी दृष्टान्त संगति है।

२. विषय—'महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः' यह कठवाक्य इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

श्रुतार्थप्रत्यभिज्ञानात्परिशेषाच्च तद्वपुः। सूक्ष्मत्वात्कारणावस्थामव्यक्ताख्यां तदर्हति ॥२॥

३४. चमसाधिकरम् ॥२॥

अजेह सांख्यप्रकृतिस्तेजोबन्नात्मिकाऽथवा । रजआदौ लोहितादिलक्ष्येऽसौ सांख्यशास्त्रगा ॥३॥
लोहितादिप्रत्यभिज्ञा तेजोबन्नादिलक्षणाम्। प्रकृतिं गमयेच्छ्रौतीमजाक्लृप्तिर्मधुत्ववत् ॥४॥

३१. संख्योपसंग्रहाधिकरणम् ॥३॥

पञ्चपञ्चजनाः सांख्यतत्त्वान्याहो श्रुतीरिताः। प्राणाद्याः सांख्यतत्त्वानि पञ्चविंशतिभासनात् ॥५॥

---

३. संशय—अव्यक्त' पद से क्या प्रधान बतलाया गया है, अथवा शरीर ? ऐसा सशय होता है।

४. पूर्वपक्ष—सांख्यस्मृति में महत्, अव्यक्त और पुरुष ऐसा जो नाम एवं क्रम प्रसिद्ध है उन्हीं की प्रत्यभिज्ञा यहां कठ श्रुति में होती है। अतः अव्यक्त पद का अर्थ प्रधान ही मानना चाहिए।

५. सिद्धान्त—इससे पूर्व जो-जो अर्थ सुने गये हैं उन सब को अपने अपने नाम से कथन होने के कारण प्रत्यभिज्ञा होती है, पर जिसे पहले शरीर शब्द से कहा गया था उसी को परिशेषतः अव्यक्त पद से कहा जायेगा। यद्यपि स्थूलशरीर अव्यक्तपदवाच्य नहीं हो सकता, किन्तु इसका आरम्भक भूत सूक्ष्म होने के कारण उस कारणावस्था को अव्यक्त कहा गया है। जिस प्रकार अन्यत्र 'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' (ऋ० सं० ९-४६-४) इत्यादि वेदवाक्य में गोविकार दध्यादि को गो शब्द से कहा गया है, ऐसे ही सूक्ष्म भूत के कार्य को अव्यक्त पद से कहना कोई विरुद्ध नहीं है।

३४. चमसाधिकरण

१ संगति—पिछले अधिकरण में अव्यक्त शब्दमात्र होने के कारण प्रधान की प्रत्यभिज्ञा न भी मानी जाय, किन्तु यहाँ पर श्वेताश्वतर श्रुति में त्रिगुणत्वादि लिङ्ग से युक्त अजा शब्द से प्रधान की प्रत्यभिज्ञा मानी जा सकती है, ऐसी प्रत्युदाहरण संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२. विषय—'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्' (श्वे० ४-५) इत्यादि वाक्य इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—क्या 'अजा' शब्द प्रधान अर्थ का वाचक है; अथवा अग्नि, जल एवं पृथ्वीरूप अवान्तर प्रकृति का वाचक है ?

४. पूर्वपक्ष—लोहितादि शब्द के लक्ष्यार्थ रजोगुण आदि होते हैं, उन्हीं को सांख्यशास्त्रप्रतिपादित अजा शब्द विषय करता है, अतः 'अजा' शब्द का अर्थ प्रकृति है।

५. सिद्धान्त—लोहितादि की प्रत्यभिज्ञा अग्नि, जल एवं पृथ्वीरूप अवान्तर प्रकृति का बोध कराती है। जैसे मधुविद्या में मधु से भिन्न आदित्य को मधु कहा गया है, ऐसे ही अनजा अग्न्यादि अवान्तर श्रौती प्रकृति को 'अजा' शब्द से कहा गया है।

३५. संख्योपसंग्रहाधिकरण

१. संगति—पूर्व अधिकरण में आध्यात्मिक अधिकार होने से अजा शब्द का प्रसिद्ध छाग अर्थ न कर अग्न्यादिरूप अवान्तर प्रकृति अर्थ किया गया था, वैसे ही 'यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः' इस मन्त्र में पञ्चजन शब्द से मनुष्यादि का ग्रहण उचित न होने के कारण सांख्यशास्त्राभिमत पच्चीस तत्त्व ग्रहण करना ही उचित होगा, ऐसी दृष्टान्त संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है।

न पञ्चविंशतेर्भानमात्माकाशातिरेकतः । संज्ञा पञ्चजनेत्येषा प्राणाद्याः संज्ञिनः श्रुताः ॥६॥

३६. कारणत्वाधिकरणम् ॥४॥

समन्वयो जगद्योनौ न युक्तो युज्यतेऽथवा । न युक्तो वेदवाक्येषु परस्परविरोधतः ॥७॥

सर्गक्रमविवादेऽपि नासौ स्रष्टरि विद्यते । अव्याकृतमसत्प्रोक्तं युक्तौऽसौ कारण ततः ॥८॥

३७. बालाक्यधिकरणम् ।५।

पुरुषाणां तु कः कर्ता प्राणजीवपरात्मसु । कर्मेति चलने प्राणो जीवोऽपूर्वं विवक्षिते ॥९॥

---

२. विषय—'यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः । तमेव मन्य आत्मानं विद्वान्ब्रह्मामृतोऽमृतम्' (बृ० ४-४-१७) इत्यादि वाक्य इस अधिकरण का विचारणीय विषय है ।

३. संशय—पञ्चजन शब्द से सांख्यशास्त्र में प्रसिद्ध मूलप्रकृत्यादि पच्चीस तत्त्व कहे गये हैं, अथवा श्रुतिवाक्यशेष में बतलाये गये प्राणादि कहे गये हैं ? ऐसा संशय होता है ।

४. पूर्वपक्ष—पञ्च शब्द दो बार पढ़े जाने के कारण सांख्यशास्त्रप्रसिद्ध पच्चीस तत्त्व ही 'पञ्च पञ्चजनाः' शब्द से ग्रहण करने योग्य है ।

५. सिद्धान्त—उक्त श्रुति में आत्मा और आकाश अतिरिक्त भी सुने जाते हैं, पच्चीस ही नहीं । ऐसी स्थिति में पञ्चजन शब्द प्राणादि पाँच के वाचक हैं अर्थात् प्राण, चक्षु, श्रोत्र, अन्न और मन इन्हीं को पञ्चजन शब्द से ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि सन्निहित वाक्यशेष में उन्हीं का नाम सुना जाता है ।

३६. कारणत्वाधिकरण

१. संगति—पिछले तीन अधिकरणों से प्रधान में अशब्दत्व बतलाकर वेदान्तवाक्यों का ब्रह्म में समन्वय कहा गया था । अब वेदान्तवाक्यों का परस्पर-विरुद्ध अर्थप्रतिपादक होने से कुछ भी निर्णय लेना शक्य नहीं है । अतः सांख्यशास्त्राभिमत प्रधानपरक ही समन्वय मानना चाहिए; ऐसी आक्षेप संगति होने के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है ।

२. विषय—इस अधिकरण का विचारणीय विषय समन्वय है ।

३. संशय—जगज्जन्मादिकारणत्ववाचक वेदान्तवाक्य ब्रह्म में प्रमाण है या नहीं ? ऐसा संशय होता है ।

४. पूर्वपक्ष—वेदान्तवाक्यों में परस्पर विरोध होने के कारण ब्रह्म में श्रुतियों का समन्वय मानना ठीक नहीं ।

५. सिद्धान्त—सृष्टि के क्रम में विवाद होने पर भी स्रष्टा में कोई विवाद नहीं है । अतः जगत्-स्रष्टा कारणब्रह्म में अव्याकृत एवं असत् शब्द का प्रयोग समुचित ही है । कारणविषयक श्रुतिविरोध का परिहार सूत्रकार वियद्पाद में करेंगे । अतः जगत्कारणत्ववाची वेदान्तवाक्यों का ब्रह्म में समन्वय मानने में कोई विरोध नहीं है ।

३७. बालाक्यधिकरण

१. संगति—समानवाक्यस्थ होने के कारण असत शब्द भी सद्ब्रह्मप्रतिपादक पिछले अधिकरण में कहा, किन्तु कौषीतकि-ब्राह्मण में 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' ऐसा बालाकिवाक्यस्थ ब्रह्म शब्द होने से प्राणादि शब्द का ब्रह्म अर्थ नहीं कर सकते; ऐसी प्रत्युदाहरण संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ कर रहे हैं ।

जगद्वाची कर्मशब्दः पुंमात्रविनिवृत्तये । तत्कर्ता परमात्मैव न मृषावादिता ततः ।।१०।।

३८. वाक्यान्वयाधिकरणम् ।।६।।

आत्मा द्रष्टव्य इत्युक्तः संसारी वा परेश्वरः । संसारी पतिजायादिभोगप्रीत्याऽस्य सूचनात् ।।११।।

अमृतत्वमुपक्रम्य तदन्तेऽप्युपसंहृतम् । संसारिणमनूद्यातः परेशत्वं विधीयते ।।१२।।

३९. प्रकृत्यधिकरणम् ।।७।।

निमित्तमेव ब्रह्म स्यादुपादनं च वक्षीणात् । कुलालवान्निमित्तं तन्नोपादनं मृदादिवत् ।।१३।।

---

२. विषय—'यो वं बालाक ! एतेषां पुरुषाणां कर्त्ता यस्य वैतत्कर्म स वै वेदितव्यः' (कौ० ब्रा० ४-१८) इत्यादि वाक्य इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—पुरुषों का कर्त्ता वेदितव्य पदार्थ प्राणहै, अथवा ब्रह्म है ? ऐसा संशय होता है।

४. पूर्वपक्ष—'यस्यवैतत्कर्म इसश्रुति में चलनात्मक कर्म प्राण के आश्रित होने से मुख्य प्राण ही अर्थ लेना चाहिए अथवा कर्म का अर्थ अपूर्व मान लेने पर जीव भी वेदितव्य पुरुष का कर्ता माना जा सकता है।

५. सिद्धान्त—कर्म शब्द जगत्‌वाचक है, पुरुष मात्र अर्थ का वाचक नहीं है। अतः उसका कर्ता वेदितव्य पदार्थ परमात्मा ही सुनिश्चित अर्थ है। ऐसा मानने पर श्रुति में मृषावादिता दोष भी नहीं आता।

३८. वाक्यान्वयाधिकरण

१. संगति—'ब्रह्म ते ब्रवाणि' इस उपक्रमवाक्य के बल से संदिग्धवाक्य को ब्रह्मपरत्व बतलाया गया था, ऐसी स्थिति में 'न वा अरे पत्युः कामाय' (बृ० ४.५.६) इत्यादि जीवोपक्रम के बल से मैत्रेयीब्राह्मणस्थ वाक्य को जीवपरक मानना चाहिए, ऐसी दृष्टान्त संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२. विषय—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृ० ४.५.६) इत्यादि श्रुति इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—इस श्रुति में द्रष्टव्यत्वादि रूप से जीव का उपदेश है अथवा परमात्मा का ? ऐसा संशय होता है।

४. पूर्वपक्ष—पति,जायादि भोग की प्रतीति होने से संसारी जीव ही यहाँ पर द्रष्टव्य मानना उचित होगा।

५. सिद्धान्त—'येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहि'' (बृ २.४.३) इस अमृतत्व का उपक्रम कर अन्त में उसी का उपसंहार भी दीखता है। अतः संसारी जीव का अनुवाद कर परमात्म अर्थ का प्रतिपादन द्रष्टव्यत्वादि रूप से इस श्रुति में किया गया है।

३९. प्रकृत्यधिकरण

१. संगति—पहले जन्माद्यधिकरण में जगत्कारण ब्रह्म बतलाया गया था। वह जैसे घटादि का उपादान कारण मृत्तिकादि है, वैसा ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है अथवा कुम्भकार की भाँति निमित्तकारण या दोनों ही कारण है; ऐसा विशेष विचार करने के लिए सामान्य ज्ञान हेतु होने से पूर्व के साथ इस अधिकरण की हेतु हेतुमद्भाव संगति है।

२. विषय—ब्रह्म की जगत्कारणता इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

बहु स्यामित्युपादानभावोऽपि श्रुत ईक्षितुः । एकबुद्धया सर्वधीश्च तस्माद्ब्रह्मोभयात्मकम् ॥१४॥

(४०) सर्वव्याख्यानाधिकरणम् ॥८॥

अण्वादेरपि हेतुत्वं श्रुतं ब्रह्मण एव वा । वटधानादिदृष्टान्तादण्वादेरपि तच्छ्रुतम् ॥१५॥
शून्याण्वादिष्वेकबुद्धया सर्वबुद्धिर्न युज्यते । स्युर्ब्रह्मण्यपि धानाद्यास्ततो ब्रह्मैव कारणम् ॥१६॥

(आदित श्लो० सं० ६६)

(इति प्रथमोऽध्यायः)

---

३. संशय—क्या ब्रह्म जगत् का केवल निमित्त कारण ही है अथवा उपादान कारण भी है? ऐसा संशय होता है।

४. पूर्वपक्ष—'स ईक्षाँचक्रे' (प्र.६.३) 'स प्राणमसृजत' (प्र.६.४) इत्यादि श्रुति से ईक्षणपूर्वक जगत्कर्तृत्व सुना जाता है जो केवलनिमित्त कारण कुलालादि में देखा गया है। अतः ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण मात्र है, मृदादि की भाँति उपादान कारण नहीं है।

५. सिद्धान्त—'बहुस्याम्' (बहुरूप होऊँ) इस श्रुति के द्वारा ईक्षणकर्ता में उपादानत्व भी सुना गया है, साथ ही एक के ज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा भी की गयी है। अतः इन सभी कारणों को देखते हुए ब्रह्म को जगत् का उभय कारण मानना उचित होगा।

४०. सर्वव्याख्यानाधिकरण

१. सङ्गति—पहले'ईक्षतेर्नाशब्दम्' यहाँ से प्रसंग प्रारम्भ कर बार-बार अशब्दत्वादि हेतुबोधक सूत्रों द्वारा प्रधानकारणवाद का जैसे निराकरण किया गया था, वैसा परमाण्वादिकारणवाद का निराकरण नहीं किया गया है, श्रुति में उनमे भी जगत्कारणत्व सुना गया है; ऐसी प्रत्युदाहरण संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२. विषय—सामान्यतः सभी वेदान्तवाक्य इस अधिकरण के विचारणीय विषय हैं।

३. संशय—जिस प्रकार ब्रह्म में जगत्कारणता सुनी गयी है; ऐसे ही परमाणु, शून्य इत्यादि से भी कहीं-कहीं जगत्कारणत्व सुना गया है, या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—हे सोम्य! जिस सूक्ष्म पदार्थ को तुम नहीं जान रहे हो इसी सूक्ष्म वटधाना में यह महान् वट वृक्ष रहता है। ऐसे ही 'असदेवेदमग्र आसीत्' (छा० ६-२-१)–सृष्टि से पहले असत् ही था, ऐसी श्रुति भी है। इन श्रुतियों से परमाणु तथा शून्य में भी जगत्कारणत्व मानना चाहिए।

५. सिद्धान्त—परमाणु या शून्य को जगत्कारण मानने पर एक के ज्ञान से सर्वज्ञान की प्रतिज्ञा सिद्ध नहीं होगी एवं ब्रह्म में भी सूक्ष्म होने से धाना शब्द का और अव्याकृत नामरूप होने के कारण असत् शब्द का प्रयोग असंगत नहीं है। अतः सम्पूर्ण जगत् का कारण ब्रह्म ही है, परमाणु आदि नहीं है यह सिद्ध हुआ।

इस प्रकार वैयासिकन्यायमाला प्रथमाध्याय की कैलास पीठाधीश्वर आचार्य म० मं० श्रीमत्स्वामि विद्यानन्द गिरि द्वारा रचित ललिता व्याख्या पूर्ण हो गयी।
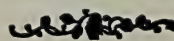
(अथ द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः)

(४१) स्मृत्यधिकरणम् ॥१॥

सांख्यस्मृत्याऽस्ति सङ्कोचो न वा वेदसमन्वये । धर्मे वेदः सावकाशः सङ्कोचोऽनवकाशया ॥१॥
प्रत्यक्षश्रुतिमूलाभिर्मन्वादिस्मृतिभिः स्मृतिः । अमूला कापिली बाध्या न सङ्कोचोऽनया ततः ॥२॥

(४२) योगप्रत्युक्त्यधिकरणम् ॥२॥

योगस्मृत्याऽस्ति सङ्कोचो न वा योगो हि वैदिकः । तत्त्वज्ञानोपयुक्तश्च ततः संकुच्यते तया ॥३॥
प्रमाऽपि योगे तात्पर्यादतात्पर्यान्न सा प्रमा । अवैदिके प्रधानादावसङ्कोचस्तयाऽन्यतः ॥४॥

॥ अथ द्वितीय अध्याय-प्रथम पाद ॥

इस विरोध परिहार नामक अध्याय के प्रथम पाद में सांख्य, वैशेषिकादि दर्शनों के साथ एवं उनके तर्कों के साथ उत्पन्न हुए वेदान्त समन्वय विरोध का परिहार किया गया है ।

४१. स्मृत्यधिकरण

१. सङ्गति—प्रथमाध्याय में प्रतिपादित वेदान्तसमन्वय का सांख्यस्मृत्यादि के द्वारा जो विरोध आया, उसका परिहार इस अध्याय से करना है इसलिए पिछले अध्याय के साथ इस अध्याय को विषयविषयीभाव सङ्गति है। प्रधानादि में वैदिक प्रमाण न रहने पर भी कपिलादि स्मृतिरूप शब्दप्रमाण तो है ही; ऐसा आपेक्ष होने पर स्मृत्यधिकरण प्रारम्भ होता है। इसलिए पूर्व के साथ इसकी आक्षेप सङ्गति है।

२. विषय—समन्वय का अविरोध इस अधिकरण का विचारणीय विषय है ।

३. संशय—वेदसमन्वय में सांख्यस्मृति से संकोच आता है, या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—यदि वेदान्त का समन्वय ब्रह्म में माना जायेगा तो बड़े-बड़े आप्त ऋषियों के द्वारा बनायी गयी, शिष्टों ने जिसे आदर भी दिया, ऐसे प्रधानकारणवादी सांख्यस्मृति का सङ्कोच होने लग जायेगा । अतः सांख्यस्मृति में प्रसिद्ध प्रधानादि के अनुसार ही श्रुतियों का अर्थ करना चाहिए।

५. सिद्धान्त—मन्वादिस्मृति प्रत्यक्ष श्रुतिमूलक है, उसके द्वारा श्रुति आधार न रखने वाली-कपिलसांख्यस्मृति बाधित हो जाती है । अतः सांख्यस्मृति के साथ समन्वय का कोई विरोध नहीं है।

४२. योगप्रत्युक्त्यधिकरण

१. सङ्गति—पूर्व अधिकरण में कहे गये न्याय का ही इस अधिकरण में अतिदेश होने से पृथक् सङ्गति की अपेक्षा नहीं रह जाती है ।

२. विषय—इस अधिकरण का भी विचरणीय विषय समन्वय ही है ।

३. संशय—पूर्वोक्त वेदान्तसमन्वय योगस्मृति के विरुद्ध है, अथवा नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—योग तत्त्वज्ञान का उपयोगी माना गया है, उसके साथ विरोध आने पर समन्वय में सङ्कोच करना पड़ेगा ।

५. सिद्धान्त—योगस्मृति तात्पर्य दृष्टि से प्रमा होती हुई भी अतात्पर्य दृष्टि से वह प्रमा नहीं है। श्रुति अविरुद्ध अष्टाङ्गयोगसाधन में योगदर्शन को भले ही प्रमाण मान लिया जाय; फिर भी श्रुतिविरुद्ध, स्वतन्त्र प्रधानकारणवाद और महदादि काय के विषय में प्रमाण नहीं है। अतः किसी अंश में योगस्मृति को तत्त्वज्ञान का उपकारक मान लेने पर भी वेदान्तवाक्य के बिना तत्त्वज्ञान का होना सम्भव नहीं। इसलिए योगस्मृति से समन्वय में कोई संकोच नहीं आता है।

(४३) विलक्षणत्वाधिकरणम ॥३॥

वैलक्षण्याख्यतर्केण बाध्यतेऽथ न वाध्यते । वाध्तते साम्यनियमात्कार्यकारणवस्तुनोः ॥५॥
मृद्घटादौ समत्वेऽपि दृष्टं वृश्चिककेशयोः । स्वकारणेन वैषम्यं तर्काभासो न बाधकः ॥६॥

(४४) शिष्टापरिग्रहाधिकरणम् ॥४॥

बाधोऽस्ति परमाण्वादिमतैर्नो वा यतः पटः । न्यूनतन्तुभिरारब्धो दृष्टोऽतो बाध्यते मतैः ॥७॥
शिष्टेष्टाऽपि स्मृतिस्त्यक्ता शिष्टत्यक्तमतं किमु । नातो बाधो विवर्ते तु न्यूनत्वनियमो न हि ॥८॥

(४५) भोक्त्रापत्त्यधिकरणम् ॥५॥

अद्वैतं बाध्यते नो वा भोक्तृभोग्यविभेदतः । प्रत्यक्षादिप्रमासिद्धो भेदोऽसावन्यबाधकः ॥९॥

---

४३. विलक्षणत्वाधिकरण

१. सङ्गति—श्रुतिविरुद्ध सांख्य स्मृति में वेदमूलकता का अभाव होने से भले ही अप्रामाण्य मान लिया गया हो; किन्तु व्याप्ति, पक्षधर्मतादिमूलक तर्क जो लोकप्रसिद्ध है उसके साथ तो समन्वय का विरोध है ही, ऐसी प्रत्युदाहरण संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है ।

२. विषय—यहाँ पर भी पूर्वअध्यायोक्त समन्वय ही विचारणीय विषय है ।

३. संशय—वैलक्षण्यनामक तर्क से पूर्वोक्त समन्वय बाधित होता है या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—कार्य और कारण वस्तु में समानता का नियम है; इस नियम से अचेतन कार्य जगत और चेतन ब्रह्मकारण, इन दोनों में कार्यकारण, का बाध हो जायेगा ।

५. सिद्धान्त—मृतिका और घटरूप कार्यकारण में समानता रहने पर भी बिच्छू और केशरूप कार्य में अपने कारण के साथ वैषम्य देखा गया है अर्थात् गोबर अचेतन है उससे चेतनबिच्छू उत्पन होता है, इस वैषम्य को देखते हुए आप का तर्काभास पूर्वोक्त कार्यकारण का बाधक नहीं हो सकता ।

४४. शिष्टापरिग्रहाधिकरण

१. सङ्गति—यहाँ पर प्रधानमल्लनिर्बर्हण न्याय से पूर्वोक्त न्याय का ही अतिदेश हुआ है। अतः पृथक् सङ्गति की अपेक्षा नहीं है ।

२. विषय—यहाँ भी समन्वयविरोध ही विचारणीय विषय है ।

३. संशय—ब्रह्म को जगत् का उपादान बतलाने वाला समन्वय वैशेषिकादि-सम्मत तर्कों के कारण विरुद्ध पड़ता है या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—पटादि कार्य अपने से न्यून तन्तुओं से उत्पन्न होते देखा गया है, अतः वैशेषिकों के तर्कों के साथ ब्रह्म कारणवाद का विरोध है ही ।

५. सिद्धान्त—किसी अंश में मन्वादि शिष्टों ने जिस स्मृति को माना था, वही जब बाधित हो गयी, तो भला सभी अंश में शिष्टों से परित्यक्त वैशेषिक मत क्यों नहीं बाधित होगा । अतः ब्रह्मकारणवाद का वैशेषिक तर्क से बाध नहीं होता । आरम्भवाद में कारण की अपेक्षा कार्य का परिमाण महान् होता है और उसकी अपेक्षा कारण अल्पपरिमाण होता है, किन्तु विवर्तवाद में उक्त नियम लागू नहीं होता । अतः समन्वय वैशेषिक तर्कों से अविरुद्ध है ।

४५. भोक्त्रापत्त्यधिकरण

१. सङ्गति—मान लिया कि ब्रह्म के विषय में तर्क को प्रतिष्ठा नहीं है; फिर भोक्ता-भोग्य जगत् के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष प्रमाण प्रतिष्ठित होने के कारण प्रथमाध्यायोक्त समन्वय विरूद्ध पड़ रहा है, ऐसी प्रत्युदाहरण सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है ।

तरङ्गफेनभेदेऽपि समुद्रेऽभेद इष्यते । भोक्तृभोग्यविभेदेऽपि ब्रह्माद्वैतं तथाऽस्तु तत् ॥१०॥

(४६) आरम्भणाधिकरणम् ॥६॥

भेदाभेदौ तात्त्विकौ स्तो यदि वा व्यावहारिकौ। समुद्रादाविव तयोर्बाधाभावेन तात्त्विकौ ॥११॥

बाधितौ श्रुतियुक्तिभ्यां तावेतौ व्यावहारिकौ । कार्यस्य कारणाभेदादद्वैतं ब्रह्म तात्त्विकम् ॥१२॥

(४७) इतरव्यपदेशाधिकरणम् ॥७॥

हिताक्रियादि स्यान्नो वा जीवाभेदं प्रपश्यतः । जीवाहितक्रिया स्वार्था स्यादेषा नहि युज्यते ॥१३॥

---

२. विषय—समन्वय में प्रत्यक्षविरोध इस अधिकरण का विचारणीय विषय है ।

३. संशय—अद्वयब्रह्म से जगत्सृष्टि बतलाने वाला समन्वय, विरुद्ध पड़ता है या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—अद्वितीय ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण मानने पर भोक्ता-भोग्य आदि प्रपञ्च ब्रह्म से अभिन्न हो जायंगे; फिर तो भोक्ताभोग्य और भोग्यविषय भोक्ता होने लग जायेगा तथा प्रत्यक्ष सिद्ध परस्पर विभाग अस्त-व्यस्त हो जायेगा ।

५. सिद्धान्त—अद्वितीय ब्रह्म को जगत् का उपादानकारण मानने पर भी प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध भोक्ता-भोग्यादि विभाग व्यवस्थित रहेगा । जिस प्रकार समुद्र के विकार वीचि, तरङ्गादि का समुद्ररूप से अभेद है और वीचि इत्यादि रूप से देखने पर परस्पर भेद है; वैसे ही भोक्ता, भोग्यादि प्रपञ्च में कल्पितभेद मानने पर भी अद्वयब्रह्मरूप से अद्वैत सिद्धान्त में बाधा नहीं आयेगी ।

४६. आरम्भणाधिकरण

१. सङ्गति–पिछले अधिकरण में परिणामवाद का आश्रय लेकर स्याल्लोकवत्(ब्र.सू.२/१/५/१३) इस वाक्य द्वारा अवान्तर समाधान दिया गया था। अब विवर्तवाद के आश्रित मुख्य समाधान दिया जाता है। अतः पूर्व अधिकरण के साथ इस अधिकरण की एकफलत्व सङ्गति है।

२. विषय—इस अधिकरण का भी समन्वय में प्रत्यक्ष विरोध ही विचारणीय विषय है ।

३. संशय—अद्वैत ब्रह्म बतलाने वाला समन्वय भेदग्राही प्रत्यक्ष से विरुद्ध पड़ता है या नहीं अर्थात् भेदाभेद तात्त्विक है अथवा व्यावहारिक है ?

४. पूर्वपक्ष—जिस प्रकार समुद्रादि में तात्त्विक भेदाभेद मानने पर कोई बाधा नहीं है: वैसे ही अद्वय ब्रह्म में भी तात्त्विकभेद मानना चाहिए ।

५. सिद्धान्त—श्रुति एवं युक्ति से भेद बाधित हो जाने के कारण उनमें व्यावहारिक भेद मानना चाहिए, किन्तु कार्य जगत् का अपने कारण ब्रह्म के साथ अभेद मानने पर अद्वयब्रह्म तात्त्विक सिद्ध होता है। अतः व्यावहारिक भेद और तात्त्विक अभेद मानने पर कोई विरोध नहीं है ।

४७. इतरव्यपदेशाधिकरण

१. सङ्गति–पहले एक विज्ञान से सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा की सिद्धि के लिए जिस युक्ति से कार्य-कारण का अनन्यत्व सिद्ध किया था, उसी युक्ति से जीव-ब्रह्म का अभेद मान लेने पर हित अकरणादि जीवधर्म ब्रह्म में आने लग जायेंगे; इस प्रकार आपेक्ष होने पर यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है ।

२. विषय—जगज्जन्मादिकारण ब्रह्म का विचार इस अधिकरण का विषय है ।

३. संशय—जीव से अभिन्न ब्रह्म को जगत्कारण मानने पर हिताकरणादि दोष ब्रह्म में आयेगा या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—जीव से अभिन्न ब्रह्म को जगत्स्रष्टा तथा नियन्ता मानने पर जीव का अहित-

अवस्तु जीवसंसारस्तेन नास्ति मम क्षतिः । इति पश्यत ईशस्य न हिताहितभागिता ॥१४॥

(४८) उपसंहारदर्शनाधिकरणम ॥८॥

न संभवेत्संभवेद्वा सृष्टिरेकाद्वितीयतः । नानाजातीयकार्याणां क्रमाज्जन्म न संभवि ॥१५॥
अद्वैतं तत्त्वतो ब्रह्म तच्चाविद्यासहायवत् । नानाकार्यकरं कार्यक्रमोऽविद्यास्थशक्तिभिः ॥१६॥

(४९) कृत्स्नप्रसक्त्यधिकरणम् ।९।

न युक्तो युज्यते वाऽस्य परिणामो न युज्यते । कात्स्न्र्याद्ब्रह्मानित्यतात्तेरंशात्सावयवं भवेत् ॥१७॥
मायाभिर्बहुरूपत्वं न कात्स्न्र्यान्नापि भागतः । युक्तोऽनवयवस्यापि परिणामोऽत्र मायिकः ॥१८॥

करणादि अपना ही माना जायेगा जो उचित नहीं है । अतः विरोध सुस्पष्ट है ।

५. सिद्धान्त—जीव में संसार कल्पित है, वास्तविक नहीं; ऐसा तत्त्वदृष्टि से जानने वाले के लिए वाले ब्रह्म में हिताकरणादिदोष नहीं आता, क्योंकि स्वयंप्रकाश ब्रह्मतत्त्व में जीवगत कल्पित हिताकरणादि का सम्बन्ध नहीं होता है ।

४८. उपसंहारदर्शनाधिकरण

१. सङ्गति—पिछले अधिकरण में जीव-ब्रह्म के औपाधिक भेद को लेकर ब्रह्म को जगतःस्रष्टा मानने पर भी उसमें हिताकरणादि दोष नहीं है, यह कहा गया था । अब ब्रह्म में औपाधिक भी करणादि मानना ठीक नहीं, क्योंकि ब्रह्म नाना नहीं है; ऐसी प्रत्युदाहरण संगति के कारण इस अधिकरण को प्रारम्भ करते हैं ।

२. विषय—जगत् के अभिन्ननिमित्त उपादान कारण असहाय चेतन ब्रह्म पर इस अधिकरण में विचार किया गया है ।

३. संशय—क्या असहाय ब्रह्म से जगत् की सृष्टि हो सकती है, या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—घटादि का कर्ता कुम्भकार अनेक साधनों के सहकार से घट को बनाते देखा गया है । एकाकी ब्रह्म नाना प्रकार के कार्य को किसी की सहायता के बिना क्रमशः उत्पन नहीं कर सकता ।

५. सिद्धान्त—तात्त्विकदृष्टि से ब्रह्म अद्वैत है, उसकी सहकारिणी अविद्या है । अतः अविद्या शक्ति के द्वारा अद्वय ब्रह्म विचित्र कार्य को क्रमशः उत्पन्न कर सकता है । लोक में दुग्ध स्वयं ही दधि-रूप में परिणत हो जाता है और देवादि बिना किसी सहायता के नाना शरीर बना लेते हैं । ऐसे ही अविद्यासहकृत अद्वयब्रह्म अन्य साधनों के बिना ही जगत्सृष्टि करेगा, इसमें कोई दोष नहीं है ।

४९. कृत्स्नप्रसक्त्यधिकरण

१. सङ्गति—पूर्व अधिकरण में भ्रमउत्पादकरवरूप कारण और इस अधिकरण में कार्य का विचार होने से दोनों की कार्य कारण भाव संगति है ।

२. विषय—निरवयव ब्रह्म से जगत्सृष्टि बतलाने वाला समन्वय इस अधिकरण का विचारणीय विषय है ।

३. संशय—निराकार ब्रह्म का परिणाम यह जगत् हो सकता है, या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—निराकार ब्रह्म से जगत्सृष्टि मानने पर पूर्णरूप से यदि ब्रह्म जगत् बन गया तो उसमें नित्यत्व नहीं रह जायेगा और यदि अंशतः जगत् ब्रह्म का परिणाम है तो ब्रह्म में सावयवत्व आ जायेगा, ऐसी स्थिति में ब्रह्म से जगत्सृष्टि बतलाने वाला समन्वय विरुद्ध है ।

५. सिद्धान्त—माया से ब्रह्म अनेक रूप धारण कर लेता है । अतः उसमें कृत्स्नप्रसक्ति दोष नहीं है और सावयव तो हम मानते ही नहीं जिससे कि ब्रह्म का अंशतः परिणाम माना जाय । निरवयव ब्रह्म का जगत् विवर्त है, परिणाम नहीं । जैसे स्वप्नद्रष्टा में स्वप्नदृश्य कल्पित है, ऐसे ही अद्वयब्रह्म में जगत् कल्पित है । अतः स्वरूप उपमर्दन के बिना ही ब्रह्म में जगत् भासता है ।

(५०) सर्वोपेताधिकरणम् ॥१०॥

नाशरीरस्य मायाऽस्ति यदि वाऽस्ति न विद्यते । ये हि मायाविनो लोके ते सर्वेऽपि शरीरिणः ॥१९॥
बाह्यहेतुमृते यद्वन्मायया कार्यकारिता । ऋतेऽपि देहं मायैवं ब्रह्मण्यस्तु प्रमाणतः ॥२०॥

(५१) न प्रयोजनवत्त्वाधिकरणम् ॥११॥

तृप्तोऽस्रष्टाऽथवा स्रष्टा, न स्रष्टा फलवाञ्छने । अतृप्तः स्यादवाञ्छायामुन्मत्तनरतुल्यता ॥२१॥
लीलाश्वासवृथाचेष्टा अनुद्दिश्य फलं यतः । अनुन्मत्तैर्विरच्यन्ते तस्मात्तृप्तस्तथा सृजेत् ॥२२॥

(५२) वैषम्यनैर्घृण्याधिकरणम् ॥१२॥

वैषम्याद्यापतेन्नो वा सुखदुःखे नृभेदतः । सृजन्विषम ईशः स्यान्निर्घृणश्चोपसंहरन् ॥२३॥

---

५०. सर्वोपेताधिकरण

१. सङ्गति—पिछले अधिकरण द्वारा ब्रह्म में विचित्र शक्तियोग वतलाया गया जिसका समर्थन इस अधिकरण द्वारा किया जायेगा, अतः दोनों की विषयविषयीभाव सङ्गति है।

२. विषय—ब्रह्म में मायायुक्तत्व का विचार इस अधिकरण द्वारा किया गया है।

३. संशय—निराकार ब्रह्म के आश्रित माया रह सकती है, या नहीं ? ऐसा संशय होता है।

४. पूर्वपक्ष—लोक में सभी मायावी शरीरधारी देखे गये हैं, अतः अशरीर ब्रह्म में माया नहीं रह सकती।

५. सिद्धान्त—बाह्यकारण के विना ही माया के द्वारा जैसे ब्रह्म जगत् का कर्त्ता है (पिछले अधिकरण में ब्रह्म को जगत्कर्ता सिद्ध किया गया था) ऐसे ही शरीर के बिना भी ब्रह्म में माया रह सकती है; ऐसा श्रुति के बल से सिद्ध होता है।

५१. न प्रयोजनत्वाधिकरण

१. सङ्गति—पिछले अधिकरण द्वारा श्रुति के आधार पर सर्वशक्तिविशिष्ट परमेश्र को जगत्कर्ता सिद्ध किया गया, अब उस पर आक्षेपकर समाधान देने के लिए यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है; अतः पूर्व के साथ इसकी आक्षेप सङ्गति है।

२. विषय—तृप्तब्रह्म को जगत्स्रष्टा मानने पर समन्वयविरोध इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—आप्तकाम ब्रह्म जगत्स्रष्टा हो सकता है, या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—फलाकांक्षा रहने पर ब्रह्म अतृप्त माना जायेगा और बिना इच्छा के उसे जगत्कर्ता मानने पर उसकी प्रवृत्ति उन्मत्त पुरुष के समान हो जायेगी। अतः आप्तकाम ब्रह्म को जगत्स्रष्टा मानना ठीक नहीं है।

५. सिद्धान्त—बिना किसी उद्देश्य के लीला में और श्वास की चेष्टा में स्वस्थ व्यक्ति की भी प्रवृत्ति देखी जाती है, अतः आप्तकाम परमेश्वर भी बिना किसी प्रयोजन के लीलादि प्रवृत्ति की भाँति जगत्-रचनारूप प्रवृति कर लेगा; इसमें कोई आपत्ति नहीं है।

५२. वैषम्यनैर्घृण्याधिकरण

१. सङ्गति– पिछले अधिकरण द्वारा मायाशक्तियुक्त ब्रह्म को लीला से जगत्स्रष्टा कहा गया, उस पर आक्षेप करके समाधान देने के लिए इस अधिकरण को प्रारम्भ करते हैं; अतः पूर्व के साथ इसकी आक्षेप सङ्गति है।

२ विषय—निर्दोषब्रह्म से जगत्सृष्टि बतलाने वाला समन्वय इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

प्राण्यनुष्ठितधर्मादिमपेक्ष्येशः प्रवर्तते । नातो वैषम्यनैर्घृण्ये संसारस्तु न चाऽऽदिमान् ॥२४॥

(५३) सर्वधर्मोपपत्त्यधिकरणम् ॥१३॥

नास्ति प्रकृतिता यद्वा निर्गुणस्यास्ति नास्ति सा । मृदादेः सगुणस्यैव प्रकृतित्वोपलम्भनात् ॥२५॥
भ्रमाधिष्ठानताऽस्माभिः प्रकृतित्वमुपेयते । निर्गुणेऽप्यस्ति जात्यादौ सा ब्रह्म प्रकृतिस्ततः ॥२६॥

(५४) रचनानुपपत्त्यधिकरणम् ॥१॥

प्रधानं जगतो हेतुर्न वा सर्वे घटादयः । अन्विताः सुखदुःखाद्यैर्यतो हेतुरतो भवेत् ॥१॥

---

३. संशय—समब्रह्म से जगत्सृष्टि मानने पर परमेश्वर में वैषम्यदोष आता है, या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—सभी प्राणियों के लिए सुख-दुःख का विधान करने वाला ईश्वर विषम माना जायेगा। साथ ही दुःख का विधान एवं सभी प्रजाओं के संहार जैसे दुःखद काम का विधान करने वाले परमात्मा में नैर्घृण्यदोष भी आ जायेगा जो समन्वय का विरोधी है।

५. सिद्धान्त—सृज्यमान प्राणियों के धर्मादि की अपेक्षाकर परमेश्वर जगत् सृष्टि, स्थिति और संहार जैसे कार्य में प्रवृत्त होता है; अतः उसमें वैषम्यनैर्घृण्यदोष नहीं है और संसार प्रवाहरूप से अनादि भी है जिसमें श्रुति और स्मृति प्रमाण विद्यमान है।

५३ सर्वधर्मोपपत्त्यधिकरण

१. सङ्गति—यद्यपि पूर्व अधिकरण में ब्रह्म को जगत् का निमित्तकारण सिद्ध किया गया, फिर भी उपादानत्वप्रयोजक गुण जब उसमें है नहीं तो ऐसी स्थिति में ब्रह्म जगत् का उपादानकारण नहीं हो सकता; ऐसी प्रत्युदाहरण संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ हुआ है।

२. विषय—इस अधिकरण द्वारा ब्रह्म में जगत् उपादानत्व का विचार किया गया है।

३. संशय—निर्गुणब्रह्म में जगत् उपादानत्व सम्भव है, या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—सगुण मृदादि में ही उपादानत्व देखा गया है, जो निर्गुणब्रह्म में कथमपि सम्भव नहीं है।

५. सिद्धान्त—जगत्कारणत्व के प्रयोजक सभी सर्वज्ञत्वादि कारणधर्म ब्रह्म में विद्यमान हैं, अतः निर्गुण ब्रह्म ही सम्पूर्ण जगत् का उपादानकारण है; किन्तु वह परिणामी उपादान नहीं है, अपितु विवर्त उपादानकारण है।

(इति द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः)
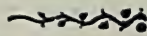
॥ द्वितीयाध्याये द्वितीयः पादः॥

(इस पाद में सांख्यादि मतों में दुष्टत्व दिखलाया गया है।)

इस प्रकार वेदान्तसमन्वय में प्रतिवादियों के द्वारा जो विरोध खड़े किये गये थे उनका खण्डन करके स्वपक्षस्थापन करने वाले प्रथम पाद के साथ इस परमतनिराकरणप्रधान द्वितीय पाद का उपजीव्य-उपजीवक भाव संगति है।

५४. रचनानुपपत्त्यधिकरण

१. सङ्गति—पिछले अधिकरण द्वारा ब्रह्म में जगत्कारणत्व, सर्वज्ञत्वादि धर्म की जो उपपत्ति कही गयी थी; उन धर्मों की संगति प्रधान में ही क्यों न मान ली जाय, ऐसा आक्षेप उठाकर इस अधिकरण के द्वारा समाधान दिया गया है; इसलिए पूर्व के साथ इसकी आक्षेप संगति मानी गयी है।

न हेतुर्योग्यरचनाप्रवृत्त्यादेरसंभवात् । सुखाद्या आन्तरा बाह्या घटाद्यास्तु कुतोऽन्वयः ॥२॥

(५५) महद्दीर्घाधिकरणम् ॥२॥

नास्ति क्षणावद्दृष्टान्तः किंवाऽस्त्यसदृशोद्भवे । नास्ति शुक्लपटः शुक्लात्तन्तोरेव हि जायते ॥३॥
अणु द्व्यणुकमुत्पन्नमनणोः परिमण्डलात् । अदीर्घाद्द्व्यणुकाद्दीर्घं त्र्यणुकं तन्निदर्शनम् ॥४॥

(५६) परमाणुजगत्कारणत्वाधिकरणम् ॥३॥

जनयन्ति जगन्नो वा संयुक्ताः परमाणवः । आद्यकर्मजसंयोगाद्द्व्यणुकादिक्रमाज्जनिः ॥५॥

---

२. विषय--सांख्य सिद्धान्त इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय--क्या सांख्य सिद्धान्त प्रमाणमूलक है, अथवा भ्रान्तिमूलक है? अर्थात् जगत् का कारण प्रधान हो सकता है या नहीं?

४. पूर्वपक्ष--घटादि सम्पूर्ण जगत् सुख-दुःख एवं मोह से अन्वित देखे जाते हैं, अतः इनका कारण सुख-दुःख-मोहात्मक त्रिगुण प्रधान ही हो सकता है।

५. सिद्धान्त--सांख्यदर्शनोक्त अनुमानसिद्धप्रधान जगत्कारण नहीं हो सकता क्योंकि स्रष्टव्य-ज्ञान से शून्य, अचेतन प्रधान से अनेकविध विचित्र रचना सम्भव नहीं है। सुखादि आन्तरपदार्थ हैं, वे घटादि विषय में कैसे रह सकेंगे।

५५. महद्दीर्घाधिकरण

१. सङ्गति--चेतनत्वादि ब्रह्म के गुण प्रपञ्च में न दीखने के कारण प्रधान की भाँति ब्रह्म भी जगत् का उपादानकारण नहीं हो सकता, ऐसी दृष्टान्त सगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२. विषय--चेतन ब्रह्म से जगत्सृष्टि कहने पर जो समन्वय में विरोध आता है, वह इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय--शुक्ल तन्तु से जैसे शुक्ल पट उत्पन्न होता देखा गया है, विपरीत नहीं; वैसे ही चेतन ब्रह्म को जगत्कारण मानने पर उसके कार्य जगत् में भी चैतन्य दीखना चाहिए, इसलिए चेतन ब्रह्म जगत्कारण नहीं हो सकता; इस तर्क के साथ समन्वय का विरोध है या नहीं?

४. पूर्वपक्ष--शुक्लतन्तु से शुक्लपट ही उत्पन्न होता है, अतः कारण से भिन्न प्रकार के कार्य उत्पन्न होने में कोई दृष्टान्त न मिलने के कारण पूर्वोक्त विरोध है ही।

५. सिद्धान्त--पारिमाण्डल्यपरिमाण से युक्त परमाणु जिस प्रकार अणुत्वपरिमाणयुक्त द्व्यणुक का कारण है और अणुत्वपरिमाण से युक्त द्व्यणुक जैसे दीर्घत्वपरिमाणयुक्त त्र्यणुक का कारण है, वहाँ कार्य-कारण में समानपरिमाणरूप धर्म नहीं है; ऐसे ही चेतन ब्रह्म से अचेतन जगत् की उत्पत्तिमानने पर समन्वय का कोई विरोध नहीं है, क्योंकि दृष्टान्त विद्यमान है।

५६. परमाणुजगत्कारणत्वाधिकरण

१. सङ्गति--अचेतन प्रधान जगत् का कारण भले ही न हो, पर नित्यज्ञानादिगुणयुक्त ईश्वर से अधिष्ठित परमाणु तो जगत् का कारण हो, ही सकता है; ऐसी प्रत्युदाहरण सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२. विषय--परमाणुकारणवाद वैशेषिक सिद्धान्त इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय--संयुक्त परमाणु जगत् उत्पन्न कर सकते हैं, या नहीं?

४. पूर्वपक्ष--सर्गारम्भ में परमाणुओं में क्रियाउत्पत्ति का कारण अदृष्ट है, उससे दो परमाणुओं में संयोग होता है और द्व्यणुकादि क्रम से जगत् की उत्पत्ति होती है।

सनिमित्तानिमित्तादिविकल्पेष्वाद्यकर्मण: । असम्भवादसयोगे जनयन्ति न ते जगत् ॥६॥

(५७) समुदायाधिकरणम् ॥४॥

समुदायावुभौ युक्तावयुक्तौ वाऽणुहेतुकः । एकोऽपरः स्कन्धहेतुरित्येवं युज्यते द्वयम् ॥७॥
स्थिरचेतनराहित्यात्स्वयं चाऽचेतनत्वतः । न स्कन्धानामणूनां वा समुदायोऽत्र युज्यते ॥८॥

(५८) अभावाधिकरणम् ॥५॥

त्विज्ञानस्कन्धमात्रत्वं युज्यते वा न युज्यते । युज्यते स्वप्नदृष्टान्ताद्बुद्धेर्व व्यवहारतः ॥९॥
अवाधात्स्वप्नवैषम्यं वाह्यार्थस्तूपलभ्यते । बहिर्वदिति तेऽप्युक्तिर्नातो धीरर्थरूपभाक् ॥१०॥

---

५. सिद्धान्त–सर्गारम्भ में क्रिया उत्पत्ति का निमित्त मानो या न मानो, दोनों ही दशा में परमाणु जगत् को उत्पन्न नहीं कर सकते; अतः वैशेषिक सिद्धान्त से वेदान्तसमन्वय में कोई विरोध नहीं आता है।

५७. समुदायाधिकरण

१. सङ्गति—इससे पूर्व अर्धवैज्ञानाशिक वैशेषिक मत का निराकरण किया गया, अब वैनाशिकत्वसादृश्य के कारण सर्ववैनाशिक सिद्धान्त बुद्धिस्थ है जिसका निराकरण अवान्तर सङ्गति के कारण इस अधिकरण द्वारा किया जायेगा।

२. विषय—वाह्यास्तित्ववाद सौत्रान्तिक—वैभाषिकों का है, उसी का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—क्या बाह्य अस्तित्ववाद प्रमाण मूलक है, या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष-परमाणुहेतुक वाह्य पृथिव्यादि भूतचतुष्टय एवं रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा संस्कार-संज्ञक पञ्चस्कन्धहेतुक आध्यात्मिक समुदाय; ऐसा वाह्य अस्तित्ववादी बौद्धों का मत प्रमाणमूलक है।

५. सिद्धान्त—कारण स्वरूपतः अचेतन है और स्थिरचैतन्य से रहित भी है, अतः स्कन्ध और परमाणु का समुदाय वाह्य अस्तित्ववादियों के मत से नहीं बन सकता।

५८. अभावाधिकरण

१. सङ्गति—वाह्यार्थवादी का मत इससे पूर्व निराकृत कर दिया गया, अब उसी को उपजीव्य बनाकर क्षणिकविज्ञानवादी योगाचार का मत उपस्थित होता है; अतः पूर्व अधिकरण के साथ इस अधिकरण की उपजीव्य–उपजीवकभाव सङ्गति है।

२. विषय—विज्ञानवादी योगाचार का सिद्धान्त इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—वाह्य पदार्थ का अस्तित्व न मानने पर विज्ञानस्कन्धमात्र जगत् को मानना युक्ति-सङ्गत है या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—स्वप्न दृष्टान्त को देखते हुए विज्ञानवाद युक्तिसङ्गत सिद्ध होता है, क्षणिक बुद्धि ही व्यवहारदृष्टि से स्वप्न की भाँति बाहर प्रतीत होती है।

५. सिद्धान्त—स्वप्नदृष्टान्त में वैषम्य है क्योंकि बाह्य अर्थ उपलब्ध होता है, उसका बाध नहीं होता; इसलिए 'बहिर्वदवभासते' यह युक्ति ठीक नहीं है। अतः बुद्धि ही घट-पटादि वाह्यजगत् के रूप में प्रतीत होती है, योगाचार का यह मत भ्रान्तिमूलक है।

(५९) एकस्मिन्नसम्भवाधिकरणम् ॥६॥

सिद्धिः सप्तपदार्थानां सप्तभङ्गीनयान्न वा। साधकन्यायसद्भावात्तेषां सिद्धौ किमद्भुतम् ॥११॥
एकस्मिन्सदसत्त्वादिविरुद्धप्रतिपादनात्। अपन्यायः सप्तभङ्गी न च जीवस्य सांशता ॥१२॥

(६०) पत्यधिकरणम् (७)

तटस्थेश्वरवादोऽयं स युक्तोऽथ न युज्यते। युक्तः कुलालदृष्टान्तान्नियन्तृत्वस्य सम्भवात् ॥१३॥
न युक्तो विषमत्वादिदोषाद्वैदिक ईश्वरे। अभ्युपेते तटस्थत्वं त्याज्यं श्रुतिविरोधतः ॥१४॥

(६१) उत्पत्त्यसम्भवाधिकरणम् (८)

जीवोत्पत्त्यादिकं पञ्चरात्रोक्तं युज्यते न वा। युक्तं नारायणव्यूहतत्समाराधनादिवत् ॥१५॥

---

५९. एकस्मिन्नसम्भवाधिकरण

१. सङ्गति—इससे पूर्व अधिकरण में बौद्ध मत का निराकरण किया गया, अब बुद्धिस्थ जैन मत का निराकरण करना है; अतः पिछले अधिकरण के साथ इस अधिकरण की बुद्धिसंनिधिलक्षण सङ्गति है।

२. विषय—समन्वयविरुद्ध जैन सिद्धान्त इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—सर्वत्र सर्वभङ्गीन्याय से सप्त पदार्थ की सिद्धि होती है, या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—सप्तपदार्थसाधकन्याय के रहते हुए उनकी सिद्धि में क्या आश्चर्य है।

५. सिद्धान्त—स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति च नास्ति च, स्यादवक्तव्यः, स्यादस्ति चावक्तव्यश्च, स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च; ऐसे एक साथ विरुद्ध सदसत्त्वादि धर्मों का एकधर्मी में प्रतिपादन होने के कारण जैनियों का सप्तभङ्गीन्याय दुर्न्याय है। साथ ही उन्होंने जीव को सावयव भी माना है, जो युक्तिविरुद्ध है; अतः सप्तभङ्गी न्याय भ्रान्तिमूलक होने के कारण उससे समन्वय में कोई विरोध नहीं आता।

६०. पत्यधिकरण

१. सङ्गति—पिछले अधिकरण द्वारा सदसत्वादि परस्परविरुद्ध धर्म एकधर्मी में कहना असम्भव होने से अनेकान्तवाद का खण्डन किया गया, वैसे ही एक ईश्वर में सम्पूर्ण जगत् का उपादानत्व एवं कर्तृत्व, ऐसे विरुद्ध धर्मों का होना असम्भव है; अतः पूर्व अधिकरण के साथ इसकी दृष्टान्त सङ्गति है।

२. विषय—तटस्थ ईश्वरकारणवाद माहेश्वर सिद्धान्त इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—ईश्वर केवल जगत् का अधिष्ठाता है, उपादानकारण नहीं; ऐसा माहेश्वर सिद्धान्त प्रमाणमूलक है, अथवा भ्रान्तिमूलक ?

४. पूर्वपक्ष—घटादि कार्य का निमित्तकारण कुलाल है, ऐसे ही जगत् का केवल निमित्तकारण ईश्वर को कहना युक्तिसंगत ही है।

५. सिद्धान्त—वेदप्रतिपादित ईश्वर को केवल निमित्तकारण मानने पर उसमें वैषम्यनैर्घृण्यदोष आ जायेंगे, अतः श्रुतिविरुद्ध होने के कारण तटस्थईश्वरकारणवाद त्यागने योग्य है, वह युक्तयुक्त नहीं है।

६१. उत्पत्त्यसम्भवाधिकरण

१. सङ्गति—पिछले अधिकरण में तटस्थईश्वरकारणवाद का निराकरण किया गया, अब अभिन्ननिमित्तोपादानकारणवाद भागवत सिद्धान्त पर विचार किया जायेगा; अतः पूर्व के साथ इस अधिकरण की प्रत्युदाहरण संगति है।

२. विषय—पाञ्चरात्रसिद्धान्त इस अधिकरणका विचारणीय विषय है।

३. संशय—एक भगवान् वासुदेव जगत् का अधिष्ठाता एवं उपादान है, उससे संकर्षणनामक

भुज्यतामविरुद्धांशो जीवोत्पत्तिर्न युज्यते । उत्पन्नस्य विनाशित्वे कृतनाशादिदोषतः ॥१६॥
(इति द्वितीय पादः । आदित श्लो० सं० १३८)

॥ द्वितीयाध्याये तृतीयः पादः ॥
(६२) वियदधिकरणम् ॥१॥

व्योम नित्यं जायते वा हेतुत्रयविवर्जनात् । जनिश्रुतेश्च गौणत्वान्नित्यं व्योम न जायते ॥१॥
एकज्ञानात्सर्वबुद्धेर्विभक्तत्वाज्जनिश्रुतेः । विवर्ते कारणैकत्वाद्ब्रह्मणो व्योम जायते ॥२॥

(६३) मातरिश्वाधिकरणम् ॥२॥

वायुर्नित्यो जायते वा छान्दोग्येऽजन्मकीर्तनात । सैषाऽनस्तमिता देवतेत्युक्तेश्च न जायते ॥३॥

जीव उत्पन्न हुआ, उस जीव से प्रद्युम्ननामक मन उत्पन्न हुआ और उस मन से अनिरुद्ध नामक अहंकार उत्पन्न हुआ; ऐसा भागवत सिद्धान्त प्रामाणिक है, अथवा अप्रामाणिक है ?

४. पूर्वपक्ष—'स एकधा भवति त्रिधा भवति' (छा०७-२६-२) इस श्रुति से परमात्मा का अनेक होना अधिगत होता है, ऐसे ही अभिगमनादिरूप अनन्यभाव से उसकी आराधना भगवत्प्राप्ति का साधन भी है; अतः भागवत सिद्धान्त प्रामाणिक है ।

५. सिद्धान्त—भागवत सिद्धान्त वेदविरुद्ध अंश में प्रामाणिक मान भी लिया जाय, फिर भी जीवोत्पत्ति अंश में वेदविरुद्ध होने के कारण, प्रामाणिक नहीं हैं क्योंकि उत्पन होने वाला पदार्थ विनाशी होता है । अतः जीव को उत्पत्तिशील मानने पर कृतविप्रनाश और अकृताभ्यागम दोष भी आयेंगे, इसलिए भागवत मत प्रामाणिक नहीं है ।

॥ द्वितीय अध्याय–तृतीय पाद ॥
(६२) वियदधिकरण

१. सङ्गति—पाद भिन्न होने के कारण पूर्व अधिकरण के साथ इस अधिकरण की सङ्गति बतलना अपेक्षित नहीं है ।

२ विषय—सृष्टिश्रुति में अविरोध बतलाने के लिए सर्वप्रथम इस अधिकरण में आकाश पर विचार किया जाता है ।

३. संशय—आकाश उत्पन्न होता है अथवा नित्य है ?

४. पूर्वपक्ष—समवायी, असमवायी एवं निमित्तकारण के न होने से आकाश उत्पन्न नहीं होता और आकाश उत्पति श्रुति गौण भी है, अतः आकाश नित्य है ।

५. सिद्धान्त—एकज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा, कार्य जगत् के विभाग और आकाश की उत्पत्ति-श्रुति को देखते हुए ब्रह्म से आकाश की उत्पत्ति मानना ही उचित है, उसे नित्य कहना ठीक नहीं है । साथ ही, विवर्तवाद में समवायी, असमवायी एवं निमित्त कारणत्रय की अपेक्षा नहीं होती; वहाँ एक ही कारण से सम्पूर्ण कार्य की उत्पत्ति सिद्धान्तसम्मत है ।

(६३) मातरिश्वाधिकरण

१. सङ्गति—पूर्वोक्त न्याय का अतिदेश इस अधिकरण में होने के कारण पूर्व के साथ इसकी अतिदेश संगति है ।

२. विषय—वायु उत्पत्ति श्रुति इस अधिकरण का विचारणीय विषय है ।

३. संशय—वायु उत्पन्न होता है, अथवा नित्य है ?

४. पूर्वपक्ष—छान्दोग्य मे वायु की उत्पत्ति न होने के कारण वायु नित्य है । साथ ही, 'सैषाऽनस्तमिता देवता यद्वायुः' (बृ० १–५–२२) इस बृहदारण्यक श्रुति में वायु के अस्तमय का प्रतिषेध किया गया

श्रुत्यन्तरोपसंहाराद्गौण्यनस्तमयश्रुतिः । वियद्वज्जायते वायुः स्वरूपं ब्रह्म कारणम् ॥४॥

(६४) असम्भवाधिकरणम् (३)

सद्ब्रह्म जायते नो वा कारणत्वेन जायते । यत्कारणं जायते तद्वियद्वाय्वादयो यथा ॥५॥
असतोऽकारणत्वेन खादीनां सत उद्भवात् । व्याप्तेरजादिवाक्येन बाधात्सन्नैव जायते ॥६॥

(६५) तेजोऽधिकरणम् ॥४॥

ब्रह्मणो जायते वह्निर्वायोर्वा ब्रह्मसंयुतात् । तत्तेजोऽसृजतेत्युक्तेर्ब्रह्मणो जायतेऽनलः ॥७॥
वायोरग्निरिति श्रुत्या पूर्वश्रुत्यैकवाक्यतः । ब्रह्मणो वायुरूपत्वमापन्नादग्निसम्भवः ॥८॥

है, इसलिए भी वायु नित्य है।

५. सिद्धान्त--तैत्तिरीय श्रुति का उपसंहार देखते हुए अनस्तमय श्रुति को गौणी मानना चाहिए। अतः आकाश की भाँति वायु भी उत्पन्न होता है जिसका कारण आकाश उपहित ब्रह्म-चैतन्य है।

(६४) असम्भवाधिकरण

१. सङ्गति—आकाश और वायु की उत्पत्ति असम्भव होने पर भी उत्पत्तिश्रुति के आधार पर पिछले अधिकरणों में उनकी उत्पत्ति का समर्थन किया गया, वैसे ही श्रुति के बल से अन्य ब्रह्म से अन्य ब्रह्म की उत्पत्ति माननी चाहिए; ऐसी दृष्टान्त संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है।

२. विषय—ब्रह्मोत्पत्तिश्रुति इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—सद्ब्रह्म उत्पन्न होता है, अथवा नित्य है ?

४. पूर्वपक्ष—कारण होने से ब्रह्म उत्पन्न होता है क्योंकि जो कारण होता है वह उत्पन्न होते देखा गया है, जैसे कि आकाश और वायु।

५. सिद्धान्त—ब्रह्म का कोई कारण नहीं क्योंकि ब्रह्म से भिन्न सत् और असत्, ऐसे दो पदार्थ कल्पित हैं; उनमें असत् तो किसी का उपादानकारण हो ही नहीं सकता और सत् से आकाशादि की उत्पत्ति सुनी जाती है। साथ ही ब्रह्म को अज, नित्य, शाश्वत कहे जाने के कारण 'यद्यत्कारणं तत्तद् उत्पत्तिशीलं' इस व्याप्ति का बाध हो जाता है। अतः सद्ब्रह्म उत्पन्न नहीं होता।

(६५) तेजोऽधिकरण

१. सङ्गति—सामान्य से सामान्य की उत्पत्ति चाहे न भी मानी जाये फिर भी सामान्य ब्रह्म से विशेष तेज की उत्पत्ति तो मान ही सकते हैं, इस प्रकार पूर्व अधिकरण के साथ इसकी प्रत्युदाहरण सङ्गति है।

२. विषय—तेज-उत्पत्ति श्रुति इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—क्या ब्रह्म से वह्नि उत्पन्न होता है अथवा ब्रह्मसंयुक्त वायु से ?

४ पूर्वपक्ष—'तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६-२-३) इस श्रुति के आधार पर ब्रह्म से ही वह्नि की उत्पत्ति माननी चाहिए।

५. सिद्धान्त—'वायोरग्निः' (तै० ३-२) इस तैत्तिरीयश्रुति के साथ छान्दोग्यश्रुति की एकवाक्यता मान लेने पर वायुरूपापन्न ब्रह्म से अग्नि की उत्पत्ति माननी चाहिए, केवल ब्रह्म से नहीं।

(६६) अबधिकरणम (५)

ब्रह्मणोऽपां जन्म किं वा वह्नेर्नाग्निर्जलोद्भवः । विरुद्धत्वात्तयोरजन्म ब्रह्मणः सर्वकारणात् ॥९॥
अग्नेराप इति श्रुत्या ब्रह्मणो वह्न्युपाधिकात् । अपां जनिर्विरोधस्तु सूक्ष्मयोर्नाग्नितोयो: ॥१०॥

(६७) पृथिव्यधिकरणम ॥६॥

ता अन्नमसृजन्तेति श्रुतमन्नं यवादिकम् । पृथिवी वा यवाद्येव लोकेऽन्नत्वप्रसिद्धितः ॥११॥
भूताधिकारात्कृष्णस्य रूपस्य श्रवणादपि । तथाऽद्भ्यः पृथिवीत्युक्तेरन्नं पृथ्व्यन्नहेतुतः ॥१२॥

(६८) तदभिध्यानाधिकरणम् ॥७॥

व्योमाद्या कार्यकर्तारो ब्रह्म वा तदुपाधिकम् । व्योम्नो वायुर्वायुतोऽग्निरित्युक्तेः खादिकर्तृता ॥१३॥

---

(६६) अबधिकरण

१. सङ्गति—वायु से तेज उत्पन्न हुआ, ऐसा कहने के बाद अब जल एवं पृथ्वी बुद्धिस्थ हैं। अतः बुद्धिसन्निधानरूप सङ्गति के कारण आगे के दो अधिकरण प्रारम्भ किये जाते हैं।

२. विषय—जल की उत्पत्ति श्रुति इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—ब्रह्म से जल की उत्पत्ति होती है, अथवा अग्नि से ?

४. पूर्वपक्ष—जल और अग्नि का परस्पर विरोध होने के कारण उनका कार्य-कारणभाव मानना उचित नहीं, अतः सर्वकारण ब्रह्म से ही जल की उत्पत्ति माननी चाहिए। 'अग्नेरापः' (तै० ३-२) इस श्रुति से वह्नि उपाधि वाले ब्रह्मचैतन्य से ही जल की उत्पत्ति माननी चाहिए।

५. सिद्धान्त—स्थूल वह्नि और जल का विरोध है, सूक्ष्म का नहीं। अतः सूक्ष्मवह्नि से जल की उत्पत्ति मानने में कोई विरोध नहीं है।

६७. पृथिव्यधिकरण

१. सङ्गति—पूर्व अधिकरण द्वारा निरूपित है।

२ विषय—पृथ्व-उत्पत्तिश्रुति इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—'ता अन्नमसृजन्त' (छा० ६-२-४) इस श्रुति में यवादि अन्न की उत्पत्ति बतलायी गयी है, अथवा पृथ्वी की ?

४. पूर्वपक्ष—लोक में अन्न शब्द की प्रसिद्धि यवादि अर्थ में ही है। इसलिए जल से यवादि की ही उत्पत्ति माननी चाहिए, पृथ्वी की नहीं।

५. सिद्धान्त—भूत उत्पत्ति का प्रसंग होने से और कृष्णरूप का श्रवण होने से भी जल से पृथ्वी की उत्पत्ति माननी चाहिए। अन्न का कारण होने से पृथ्वी को भी अन्न शब्द से कहा गया है। अतः 'अद्भ्यः पृथिवी' (जल से पृथिवी उत्पन्न हुई) तथा 'ता अन्नमसृजन्त' ये दोनों श्रुतियां समानार्थक हैं, इन दोनों की एकवाक्यता होने के कारण इनका विरोध नहीं है।

६८ तदभिध्यानाधिकरण

१. सङ्गति—पूर्व अधिकरणों में महाभूतोत्पत्ति श्रुति का विरोध दूर किया गया, अब उन्हीं भूतों का आश्रय लेकर कुछ अन्य बात का भी विचार करना है। अतः पूर्व अधिकरण के साथ इसकी आश्रयाश्रयीभाव सङ्गति है।

२. विषय—भूतोत्पत्ति श्रुति का पुनर्विचार इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—क्या वायु आदि भूतों की उत्पत्ति तत्तद्-पूर्व उत्पन्न भूतोपहित ब्रह्म से होती है,

ईश्वरोऽन्तर्यमयतीत्युक्तेर्व्योमाद्युपाधिकम् । ब्रह्म वाय्वादिहेतुः स्यात्तेजआदीक्षणादपि ॥१४॥

(६९) विपर्ययाधिकरणम् ॥८॥

सृष्टिक्रमो लये ज्ञेयो विपरीतक्रमोऽथ वा । क्लृप्तं कल्प्याद्वरं तेन लये सृष्टिक्रमो भवेत् ॥१५॥
हेतावसति कार्यस्य न सत्त्वं युज्यते यतः । पृथिव्यप्स्विति चोक्तत्वाद्विपरीतक्रमो लये ॥१६॥

(७०) अन्तराविज्ञानाधिकरणम् ॥९॥

किमुक्तक्रमभङ्गोऽस्ति प्राणाद्यैर्नास्ति वाऽस्ति हि । प्राणाक्षमनसां ब्रह्मवियतोर्मध्य ईरणात् ॥१७॥

अथवा केवल भूत से ?

४. पूर्वपक्ष—'आकाशाद्वायुः' (आकाश से वायु उत्पन्न हुआ) इत्यादि श्रुतियों से पूर्व-पूर्व भूत से उत्तर-उत्तर भूत की उत्पत्ति माननी चाहिए, ब्रह्म से नहीं।

५. सिद्धान्त—'ईश्वर सबके भीतर रहकर नियमन करता है' इस श्रुति के आधार पर आकाशादि उपाधि से उपहित ब्रह्मचैतन्य अन्य भूतोत्पत्ति का कारण है। 'तत्तेज ऐक्षत' (उस तेज ने संकल्प किया) ऐसा तेज में ईक्षण सुना गया है जो तेज का नहीं है, अपितु तेज उपहित ब्रह्मचैतन्य का है।

(६९) विपर्ययाधिकरण

१. सङ्गति—भूतों की उत्पत्ति का विचार अब तक किया गया है, अब बुद्धिस्थ विलय-क्रम का विचार करना है; इसलिए पूर्व के साथ इस अधिकरण की प्रसङ्ग सङ्गति है।

२. विषय—भूतों का लय-क्रम इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—जिस क्रम से भूतों की उत्पत्ति हुई है, उसी क्रम से इनका विलय होता है, अथवा विपरीत क्रम से ?

४. पूर्वपक्ष—उभयवादी सिद्ध होने के कारण निर्विवाद उत्पत्तिक्रम से ही भूतों का विलय मानना चाहिए, विपरीत क्रम तो कल्प्यमान होने के कारण विवादास्पद है।

५. सिद्धान्त—उपादानकारण के न रहने पर कार्य की स्थिति क्षण भर भी नहीं रह सकती, साथ ही 'हे देवर्षि नारद ! सम्पूर्ण जगत् की प्रतिष्ठा यह पृथ्वी प्रलयकाल में अपने कारण जल में लीन होती है' ऐसा सुना गया है; अतः उत्पत्ति क्रम की अपेक्षा विपरीत क्रम से भूतों का विलय मानना चाहिए।

(७०) अन्तराविज्ञानाधिकरण

१ सङ्गति--भूतोत्पत्ति एवं लयक्रम विचार का जो प्रयोजन (लयचिन्तन) बतलाया गया है, वही प्रयोजन करणों की उत्पत्ति एवं विलय क्रम के विचारक हैं; अतः एकप्रयोजनकत्व सङ्गति के कारण इस अधिकरण को प्रारम्भ करते हैं।

२. विषय--करणोत्पत्तिश्रुतिविरोध इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—पूर्वोक्त भूतोत्पत्तिक्रम करणोत्पत्तिक्रम से विरुद्ध है या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष--ब्रह्म और आकाश के मध्य में प्राण, इन्द्रियों और मन की उत्पत्ति के कारण भूतोत्पत्ति क्रम का विरोध सुस्पष्ट भासता है।

प्राणाद्या भौतिका भूतेष्वन्तर्भूताः पृथक्क्रमम । नेच्छन्त्यतो न भङ्गोऽस्ति प्राणादौ न क्रमः श्रुतः ॥१८॥

(७१) चराचरव्यपाश्रयाधिकरणम् ॥१०॥

जीवस्य जन्ममरणे वपुषो वाऽऽत्मनो हि ते । जातो मे पुत्र इत्युक्तेर्जातकर्मादितस्तथा ॥१९॥
मुख्ये ते वपुषो भाक्ते जीवस्यैते अपेक्ष्य हि । जातकर्म च लोकोक्तिर्जीवापेतेतिशास्त्रतः ॥२०॥

(७२) आत्माधिकरणम् ॥११॥

कल्पादौ ब्रह्मणो जीवा वियद्वज्जायते न वा । सृष्टेः प्रागद्वयत्वोक्तेर्जायते विस्फुलिङ्गवत् ॥२१॥
ब्रह्माद्वयं जातबुद्धौ जीवत्वेन विशेत्स्वयम् । औपाधिकं जीवजन्म नित्यत्वं वस्तुतः श्रुतम् ॥२२॥

---

५. सिद्धान्त—मन और बुद्धि भौतिक होने के कारण प्राणादि भौतिक सभी पदार्थ पञ्चभूतों के अन्तर्गत ही आ जाते हैं। अतः भौतिक प्राणादि उत्पत्ति का क्रम पृथक् नहीं है। साथ ही आथर्वण श्रुति ने सम्पूर्ण भूत और भौतिक सभी पदार्थों को उत्पत्तिमात्र को कहा है, क्रम को नहीं। अतः भूतोत्पत्तिक्रम के भङ्ग का कोई प्रसङ्ग ही नहीं आता है।

(७१) चराचरव्यपाश्रयाधिकरण

१. सङ्गति—पञ्चभूत एवं भौतिक प्राणादि में कार्यकारणभाव होने के कारण इनकी उत्पत्ति श्रुतिविरोध का परिहार किया गया। पर जीव तो किसी का कार्य नहीं है, उसकी उत्पत्तिबोधक शास्त्र के साथ विरोध तो रहेगा ही; ऐसी प्रत्युदाहरण सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है।

२. विषय—जीवोत्पत्ति श्रुति इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—क्या जीव के जन्म-मरण होते हैं, अथवा शरीर के ?

४. पूर्वपक्ष—'मेरा पुत्र उत्पन्न हुआ' इस कथन से तथा जातकर्मादि के विधान से जीवात्मा का ही जन्म-मरण मानना चाहिए।

५. सिद्धान्त—शरीर के ही मुख्यरूप से जन्म-मरण होते हैं, जीवात्मा में इनका गौण प्रयोग होता है। इन्हीं की अपेक्षा करके जातकर्मादि संस्कार का विधान किया गया है। 'जीवोपेतम्' (जीवरहित शरीर मरता है) इस शास्त्र के आधार पर भी देहादि का जन्म और आत्मा का नित्यत्व मानना ही उचित होगा।

(७२) आत्माधिकरण

१. सङ्गति—प्रतिदेह उत्पत्ति और नाश से चाहे जीव के उत्पत्ति-नाश न भी माने जायँ, फिर भी कल्प के आदि-अन्त में जीव के जन्म एवं नाश क्यों न मान लिये जायँ? ऐसी प्रत्युदाहरण सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२. विषय—आत्मा का नित्यत्वानित्यत्व इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—कल्प के आदि में आकाशादि की भाँति जीव ब्रह्म से उत्पन्न होता है या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—सृष्टि से पूर्व अद्वयत्व कथन के कारण अग्नि से विस्फुलिङ्गादि की भाँति जीव ब्रह्म से उत्पन्न होता है।

५. सिद्धान्त—अन्तःकरणादि के उत्पन्न हो जाने पर स्वयं अद्वय ब्रह्म जीवरूप से उसमें प्रवेश करता है। अतः जीव का जन्म औपाधिक है। 'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः' (क० २/१८) इत्यादि श्रुति से जीव के नित्यत्व का बोध होता है।

(७३) ज्ञाधिकरणम् ॥१२॥

अचिद्रूपोऽथ चिद्रूपो जीवोऽचिद्रूप इष्यते । चिदभावात्सुषुप्त्यादौ जाग्रच्चिन्मनसा कृता ॥२४॥
ब्रह्मत्वादेव चिद्रूपक्षितिः सुषुप्तौ न लुप्यते । द्वैतादृष्टिर्न लोपोऽस्ति नहि द्रष्टुरिति श्रुते ॥२५॥

(७४) उत्क्रान्तिगत्यधिकरणम् ॥१३॥

जीवोऽणुः सर्वगो वा स्यादेषोऽणुरिति वाक्यतः । उत्क्रान्तिगत्यागमनश्रवणाच्चाणुरेव सः ॥२६॥
साभासबुद्ध्याऽणुत्वेन तदुपाधित्वतोऽणुता । जीवस्य सर्वगत्वं तु स्वतो ब्रह्मत्वतः श्रुतम् ॥२७॥

(७५) कर्त्रधिकरणम् ॥१४॥

जीवोऽकर्ताऽथवा कर्ता धियः कर्तृत्वसंभवात् । जीवकर्तृतया किं स्यादित्याहुः सांख्यमानिनः ॥२८॥

---

७३. ज्ञाधिकरण

१. सङ्गति—पिछले अधिकरण में जीव की अनुत्पत्ति बतलाई गयी थी, उसी जीव में चेतनत्वाचेतनत्व का विचार करना है; इसलिए पूर्व अधिकरण के साथ इसकी हेतुहेतुमद्भाव सङ्गति है।

२. विषय—जीवाश्रित चेतनत्वाचेतनत्व इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—जीवात्मा चेतन है, अथवा अचेतन?

४. पूर्वपक्ष—सुषुप्त्यादि में चेतनता का अभाव होने के कारण जीवात्मा चिद्रूप नहीं है।

५. सिद्धान्त—सुषुप्त्यादि अवस्था में आत्मा की चिद्रूपता का लोप नहीं होता है, द्वैत जगत् का अपने कारण में विलय हो जाने के कारण केवल द्वैतदृष्टि ही लुप्त होती है। 'नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपोविद्यतेऽविनाशित्वात्' (द्रष्टा की दृष्टि का लोप नहीं होता) ऐसा श्रुति होने के कारण भी जीवात्मा को चिद्रूप ही माना है।

७४. उत्क्रान्तिगत्यधिकरण

१. सङ्गति—ब्रह्म के साथ अभेद सम्पादन के लिए जिस प्रकार जीवात्मा में स्वयंज्योतिष्ट्व और नित्यत्व इससे पूर्व के अधिकरणों में सिद्ध किया गया, ऐसे ही इस अधिकरण में जीवाणुत्वनिरासपूर्वक विभुत्व सिद्ध करने के लिए आन्तरवहिर्भाव संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२. विषय—जीव परिमाण इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—जीवात्मा अणु परिमाण है, अथवा विभु परिमाण है?

४. पूर्वपक्ष—'एषोऽणुरात्मा' (मु० ३-१-९) इस श्रुति से जीव में अणुत्व सिद्ध होता है; साथ ही उत्क्रान्ति, गमनागमन का श्रवण होने से भी जीवात्मा में अणुत्व मानना ही उचित है।

५. सिद्धान्त—साभासबुद्धि अणु परिमाण वाली है, ऐसी उपाधि के कारण ही जीवात्मा में अणुत्व श्रुति ने कहा है, स्वतः तो जीवात्मा में विभुत्व ही है, क्योंकि वह ब्रह्म से अभिन्न कहा गया है।

७५. कर्त्रधिकरण

१ सङ्गति—जिस प्रकार जीवात्मा में अणुत्व औपाधिक है और स्वयंज्योतिष्ट्वादि की भाँति विभुत्व पारमार्थिक है, ऐसे ही कर्तृत्वादि भी बुद्धि उपाधि के कारण जीवात्मा में परिकल्पित है; इस आन्तरवहिर्भाव संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है।

२. विषय—जीव में कर्तृत्वाकर्तृत्व इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३ संशय—जीवात्मा कर्ता है, अथवा अकर्ता है?

४. पूर्वपक्ष—विकारी होने से जब बुद्धि में कर्तृत्व संभव है, तो फिर निर्विकार-जीव में कर्तृत्व

करणत्वान्न धीः कर्त्री यागश्रवणलौकिकाः । व्यापारा न विना कर्त्रा तस्माज्जीवस्य कर्तृता ॥२८॥

(७६) तक्षाधिकरणम् ॥१५॥

कर्तृत्वं वास्तवं किं वा कल्पितं वास्तवं भवेत् । यजेतेत्यादिशास्त्रेण सिद्धस्याबाधितत्वतः ॥२९॥
असङ्गो हीति तद्बाधात्स्फटिके रक्ततेव तत् । अध्यस्तं धीचक्षुरादिकरणोपाधिसंनिधेः ॥३०॥

(७७) परायत्ताधिकरणम् ॥१६॥

प्रवर्तकोऽस्य रागादिरीशो वा रागतः कृषौ । दृष्टा प्रवृत्तिर्वैषम्यमीशस्य प्रेरणे भवेत् ॥३१॥
सस्येषु वृष्टिवज्जीवेष्वीशस्याविषमत्वतः । रागोऽन्तर्याम्यधीनोऽत ईश्वरोऽस्य प्रवर्तकः ॥३२॥

क्यों माना जाय ? ऐसा सांख्यों का कहना है ।

५. सिद्धान्त—करण होने के कारण बुद्धि को कर्ता मानना ठीक नहीं और कर्ता के विना यागादि शास्त्रीय अथवा लौकिक व्यापार हो नहीं सकते । अतः जीवात्मा में कर्तृत्व मानना ही उचित होगा ।

७६. तक्षाधिकरण

१. सङ्गति—पूर्व अधिकरण द्वारा शास्त्रार्थ के अर्थवत्तादि हेतुओं से जीवात्मा में कर्तृत्व बतलाया गया, वह आत्मा में कल्पित है; बस इसी अर्थ को बतलाने के लिए यह अधिकरण उपजीव्य-उपजीवक भाव सङ्गति के कारण प्रारम्भ किया जाता है ।

२. विषय—जीवकर्तृत्व का अवान्तर विचार इस अधिकरण में किया गया है ।

३. संशय—जीवात्मा में कर्तृत्व पारमार्थिक है, अथवा कल्पित है ?

४. पूर्वपक्ष—'यजेत' इत्यादि शास्त्र से सिद्ध कर्तृत्व का बाध न होने के कारण जीवकर्तृत्व पारमार्थिक ही है ।

५. सिद्धान्त—'जीवात्मा असङ्ग है' इस श्रुति से कर्तृत्व का बाध होने के कारण लोहितः स्फटिकः इस प्रतीति की भाँति आत्मा में भी कर्तृत्व कल्पित है । बुद्धि, इन्द्रियादि करण के सन्निधान रूप उपाधि के सन्निधान से जीवात्मा में कर्तृत्व औपाधिक ही सिद्ध होता है ।

७७. परायत्ताधिकरण

१. सङ्गति—पूर्व अधिकरण द्वारा जीवात्मा में औपाधिक कर्तृत्व सिद्ध किया गया था, अब उस कर्तृत्व को ईश्वराधीन सिद्ध करने के लिए उपजीव्य-उपजीवकभाव सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है ।

२. विषय—जीवात्मा के कर्तृत्वप्रयोजक का विचार इस अधिकरण में किया गया है ।

३. संशय—जीवात्मा के कर्तृत्व के प्रवर्तक रागादि हैं, अथवा ईश्वर है ?

४. पूर्वपक्ष—कृषि आदि लौकिक व्यापार में कर्ता की रागतः प्रवृत्ति देखी गयी है; साथ ही ईश्वर को प्रेरक मानने पर उसमें वैषम्यदोष भी आ जायेगा । अतः कर्म में जीवात्मा के प्रवर्तक रागादि मानदोष ही हैं, ईश्वर नहीं ।

५. सिद्धान्त—कृषि आदि की उत्पत्ति में जिस प्रकार वृष्टि सामान्य प्रयोजक है, ऐसे ही कर्म में जीवात्मा का सामान्य प्रेरक ईश्वर है; अतः ईश्वर में वैषम्यदोष नहीं आयेगा । विशेष प्रेरक रागादि होते हुए भी वे ईश्वराधीन ही हैं । अतः कर्म में जीवात्मा का प्रवर्तक मुख्यरूप से ईश्वर ही है ।

(७८) अंशाधिकरणम् ॥१७॥

किं जीवेश्वरसांकर्यं व्यवस्था वा श्रुतिद्वयात् । अभेदभेदविषयात्सांकर्यं न निवार्यते ॥३३॥
अंशोऽवच्छिन्न आभास इत्यौपाधिककल्पनैः । जीवेशयोर्व्यवस्था स्याज्जीवानां च परस्परम् ॥३४॥

(आदितः श्लो० सं० -१७२)

(इति द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ।)

॥ अथ द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

(७९) प्राणोत्पत्त्यधिकरणम् ॥१॥

किमिन्द्रियाण्यनादीनि सृज्यन्त वा परमात्मना । सृष्टेः प्रागृषिनाम्नैषां सद्भावोक्तेरनादिता ॥१॥
एकबुद्धया सर्वबुद्धभौतिकत्वाज्जनिश्रुतेः । उत्पद्यन्तेऽथ सद्भावः प्रागवान्तरसृष्टितः ॥२॥

---

७८. अंशाधिकरण

१· सङ्गति—पूर्व अधिकरण द्वारा जीवात्मा में नित्यत्वादि बतलाने के बाद इस अधिकरण द्वारा ब्रह्माभेद योग्य जीव में तदैक्य बतलाने के लिए यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता हैं।

२. विषय—जीव-ईश्वर के भेदाभेद का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—जीव और ईश्वर का सांकर्य है, अथवा व्यवस्था है?

४. पूर्वपक्ष—भेद और अभेदबोधक श्रुतियों को देखते हुए जीव और ईश्वर के सांकर्य का वारणकर व्यवस्थित करना सम्भव नहीं है।

५. सिद्धान्त—जीव ब्रह्म का अंश है, अवच्छिन्न है और आभास है; इस प्रकार औपाधिक कल्पना मानकर जीव और ईश्वर की एवं जीवों का भी परस्पर व्यवस्था सम्भव हो जाती है। अतः जीव-ईश का अथवा जीवों के परस्पर सांकर्य का आग्रह दुराग्रह ही है।

(द्वितीय अध्याय तृतीय पाद समाप्त)

—※—

॥ द्वितीयाध्याय—चतुर्थ पाद ॥

भौतिक इन्द्रियों की उत्पत्ति, संख्या और तत्त्वादिविषयक श्रुतियों के परस्पर विरोध का परिहार चतुर्थ पाद से किया गया है।

(७९) प्राणोत्पत्त्यधिकरण

१. सङ्गति–पूर्व अधिकरण द्वारा कर्तृत्वस्वरूपावधारण किया गया, अब जीवात्मा के उपकरण इन्द्रियादि बुद्धिस्थ हैं; उनकी उत्पत्ति बतलाने के लिए बुद्धिस्थ सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२. विषय—प्राणोत्पत्ति इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—क्या वागादि इन्द्रियाँ अनादि हैं, अथवा परमात्मा के द्वारा रचे गये हैं?

४. पूर्वपक्ष—सृष्टि से पूर्व ऋषि नाम से कही गयी इन इन्द्रियों का अस्तित्व सुना जाता है, अतः इन्द्रियाँ अनादि हैं।

५. सिद्धान्त—एक के ज्ञान से सर्वज्ञान की प्रतिज्ञा, इन्द्रियों के भौतिकत्व का प्रमाण और उत्पत्तिश्रुति की विद्यमानता को देखते हुए इन्द्रियों की उत्पत्ति मानना ही युक्तिसंगत है। सृष्टि से पूर्व इन्द्रियों का सद्भाव तो अवान्तरसृष्टि को लेकर कहा गया है।

(८०) सप्तगत्यधिकरणम् ॥२॥

सप्तैकादश वाऽक्षाणि सप्त प्राणा इति श्रुतेः । सप्त स्युर्मूर्धनिष्ठेषु च्छिद्रेषु च विशेषणात् ॥३॥
अशीर्षण्यस्य हस्तादेरपि वेदे समीरणात् । ज्ञेयान्येकादशाक्षाणि तत्तत्कार्यानुसारतः ॥४॥

(८) प्राणाणुत्वाधिकरणम् ॥३॥

व्यापीन्यणूनि वाऽक्षाणि सांख्या व्यापित्वमूचिरे । वृत्तिलाभस्तत्र तत्र देहे कर्मवशाद्भवेत् ॥५॥
देहस्थवृत्तिमद्भागेष्वेवाक्षत्वं समाप्यताम् । उत्क्रान्त्यादिश्रुतेस्तानि ह्यणूनि स्युरदर्शनात् ॥६॥

(८२) प्राणश्रैष्ठ्याधिकरणम् ॥४॥

मुख्यः प्राणः स्यादनादिर्जायते वा न जायते । आनीदिति प्राणचेष्टा प्राक्सृष्टेः श्रूयते यतः ।:७॥

---

८० सप्तगत्यधिकरण

१. सङ्गति—पूर्व अधिकरणद्वारा इन्द्रियों की उत्पत्तिश्रुतिविरोध का परिहार किया गया, अब उनसे भिन्न जीवात्मा का विवेक करना है; अतः इन्द्रियों की संख्या का निर्णय करने के लिए आश्रयाश्रयोभाव संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२. विषय—वागादि इन्द्रियों की संख्या का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—इन्द्रियां सात हैं, अथवा एकादश हैं ?

४. पूर्वपक्ष—'सप्तप्राणाः' (मु० २-१-८) इस श्रुति के बल से मस्तकस्थ सात छिद्रों में रहने वाली इन्द्रियों की संख्या सात हा है ।

५. सिद्धान्त—शिरस्थ छिद्र से भिन्न हस्तादि इन्द्रियों का भी वर्णन वेद में मिलता है, अतः इन्द्रियां एकादश हैं, जिनके कार्य पृथक्-पृथक् देखे जाते हैं ।

८१. प्राणाणुत्वाधिकरण

१. सङ्गति—अपरिच्छिन्न अहंकारजन्य होने के कारण इन्द्रियाँ भी अपरिच्छिन्न (विभु) हैं, फिर भला उनका शरीर से उत्क्रमण किस प्रकार हो सकता है ? ऐसी आक्षेप संगति होने के कारण इस अधिकरण की रचना हुई है ।

२. विषय—इन्द्रियों के परिमाण का विचार इस अधिकरण में किया गया है ।

३. संशय—इन्द्रियां अणु परिमाण हैं, अथवा व्यापक हैं ?

४. पूर्वपक्ष—सांख्यों ने इन्द्रियों को व्यापक माना है । तत्तद् देह में पूर्वकर्मानुसार इन्द्रियों का व्यापार होता रहता है; अतः इन्द्रियां विभु है ।

५. सिद्धान्त—देह में होने वाले व्यापारविशिष्ट भागों शरोर में ही इन्द्रियाँ परिच्छिन्न रहती हैं; अतः इन्द्रियां विभु नहीं हैं । साथ ही, मृतशरीर से इन्द्रियों का उत्क्रमण भी सुना और देखा जाता है । अतिसूक्ष्म होने के कारण वे इन्द्रियां देखी नहीं जाती; अतः वे परिच्छिन्न ही हैं, विभु नहीं ।

८२. प्राणश्रैष्ठ्याधिकरण

१. संगति—पिछले अधिकरणों में इन्द्रियों की सृष्ट्यादि का प्रतिपादन किया, अब मुख्य प्राण में भी प्रथमाधिकरणन्याय का अतिदेश करते हैं; अतः पूर्व अधिकरण के साथ इसकी अतिदेश संगति है ।

२. विषय—मुख्यप्राण की उत्पत्ति का विचार इस अधिकरण का विषय है ।

३. संशय—मुख्यप्राण अनादि है, अथवा उत्पन्न होता है ?

४. पूर्वपक्ष—सृष्टि से पूर्व प्राण की चेष्टा 'आनीदवातं स्वधया तदेकम्' (ऋ० सं० ८-७-१७)

आनीदिति ब्रह्मसत्त्वं प्रोक्तं वातनिषेधनात् । एतस्माज्जायते प्राण इत्युक्तेरेव जायते ॥८॥

(८३) न वायुक्रियाऽधिकरणम् ॥५॥

वायुर्वाऽक्षक्रिया वाऽन्यो वा प्राणः श्रुतितोऽनिलः। सामान्येन्द्रियवृत्तिर्वा सांख्यैरेवमुदीरणात् ॥९॥
भाति प्राणो वायुनेति भेदोक्तेरेकताश्रुतिः । वायुजत्वेन सामान्यवृत्तिर्नाक्षवत्तोऽन्यता ॥१०॥

(८४) श्रेष्ठाणुत्वाधिकरणम् ॥ ॥

प्राणोऽयं विभुरल्पो वा विभुः स्यात्प्लुष्युपक्रमे । हिरण्यगर्भपर्यन्ते सर्वदेहे समोक्तितः ॥११॥
समष्टिव्यष्टिरूपेण विभुरेवाऽऽधिदैविकः । आध्यात्मिकोऽल्पः प्राणः स्याददृश्यश्च यथेन्द्रियम् ॥१२॥

(८५) ज्योतिराद्यधिकरणम् ॥७॥

स्वतन्त्रा देवतन्त्रा वा वागाद्याः स्युः स्वतन्त्रता। नो चेद्भोगादिजो भोगो देवानां स्यान्न चाऽऽत्मनः ॥१३॥

इस श्रुति में सुनी गयी है, अतः मुख्यप्राण अनादि है।

५ सिद्धान्त—'एतस्माज्जायते प्राणः' (मु० २-१-३) इस मुण्डक श्रुति के आधार पर इतर प्राणों की भाँति मुख्यप्राण की उत्पत्ति भी सुनी जाती है; अतः 'आनीत्' शब्द उत्पत्ति से पूर्व प्राण के सद्भाव का सूचक नहीं है क्योंकि वहाँ पर 'अवातम्' ऐसा भी विशेषण है। उक्त श्रुति को मूल-प्रकृति में प्राणादि समस्त विशेष का अभाव दिखलाना अभीष्ट है, अतः उस श्रुति से प्राणउत्पत्तिश्रुति का कोई विरोध नहीं है।

८३. न वायुक्रियाधिकरण

१. सङ्गति—इस प्रकार प्राण उत्पत्ति का विचारकर अब उसका स्वरूप बतलाने के लिए प्रसंग सङ्गति से यह अधिकरण कहते हैं।

२. विषय—मुख्य प्राण का स्वरूप इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—मुख्य प्राण क्या वायु है, इन्द्रियों का व्यापार है, अथवा वायुविशेष है?

४. पूर्वपक्ष—श्रुति के आधार पर वायु ही प्राण है अथवा इन्द्रियों के सामान्य व्यापार को प्राण मानना चाहिए क्योंकि ऐसा ही सांख्यों ने प्राण को माना है।

५. सिद्धान्त—'बाह्यवायु से प्राण प्रवृत्त होता है' इस श्रुति द्वारा प्राण और बाह्यवायु में भेद बतलाया गया है, एकताश्रुति ने तो तत्त्वदृष्टि से अभेद बतलायी है। मन की भाँति इन्द्रिय-व्यापार का सामान्यरूप से प्रेरक प्राण भी है, जो इन्द्रियों से पृथक् है।

८४. श्रेष्ठाणुत्वाधिकरण

१. सङ्गति—प्राण की उत्पत्ति और स्वरूप पिछले दो अधिकरणों में बतलाये गये, अब उसका परिमाण बतलाने के लिए अतिदेश सङ्गति से यह अधिकरण प्रारम्भ होता है।

२ विषय—प्राण के परिमाण का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३ संशय—क्या प्राण विभु है, अथवा परिच्छिन्न है?

४. पूर्वपक्ष—क्षुद्रजन्तु से लेकर हिरण्यगर्भपर्यन्त सभी देह में समानरूप से रहने के कारण प्राण को विभु मानना उचित होगा।

५. सिद्धान्त—समष्टिरूप से आधिदैविक वायु विभु है और व्यष्टिरूप से आध्यात्मिक वायु परिच्छिन्न है। इन्द्रियों की भाँति प्राण भी अतीन्द्रिय है।

८५. ज्योतिराद्यधिकरण

१ सङ्गति—पिछले अधिकरण में मुख्यप्राण को अध्यात्मदृष्टि से परिच्छिन्न और अधिदैवदृष्टि से विभु बतलाया गया, अब इस अधिकरण में प्राणप्रसंग के कारण अधिदैवतादि से अधिष्ठित इन्द्रियों

श्रुतमग्न्यादितन्त्रत्वं भोगोऽग्न्यादेस्तु नोचित: । देवदेहेषु सिद्धत्वाज्जीवो भुङ्क्ते स्वकर्मणा ।।१४।।

(८६) इन्द्रियाधिकरणम् ।।८।।

प्राणस्य वृत्तयोऽक्षाणि प्राणात्तत्त्वान्तराणि वा । तद्रूपत्वश्रुतेः प्राणनाम्नोक्तत्वाच्च वृत्तयः ।।१५।।
श्रमाश्रमाविभेदोक्तेर्गौणे तद्रूपनामनी । आलोचकत्वेनान्यानि प्राणो नेताऽङ्गदेहयोः ।।१६।।

(८७) संज्ञामूर्तिक्लृप्त्यधिकरणम् ।।६।।

नामरूपव्याकरणे जीवः कर्ताऽथवेश्वरः । अनेन जीवेनेत्युक्तेर्व्याकर्ता जीव इष्यते ।।१७।।

की चेष्टा बतलाना अभीष्ट है; अतः पूर्व अधिकरण के साथ इसकी प्रसङ्ग संगति है ।

२ विषय—चक्षुरादि इन्द्रियों की प्रवृत्ति का विचार इस अधिकरण में किया गया है ।

३. संशय—क्या चक्षुरादि इन्द्रियों की प्रवृत्ति देवाधीन हैं, अथवा देवनिरपेक्ष, स्वतन्त्र है?

४. पूर्वपक्ष—इन्द्रियों की प्रवृत्ति स्वतन्त्र ही है, देवाधीन नहीं क्योंकि देवाधीन मानने पर देवताओं का ही भोग माना जायेगा, आत्मा का नहीं।

५. सिद्धान्त—वागादि इन्द्रियों की प्रवृत्ति देवाधीन मानने पर भी भोग देवताओं का मानना उचित नहीं है क्योंकि देवताओं का भोग तो देवशरीर में ही सिद्ध होता है, अन्य शरीरों में तो अपने कर्मानुसार जीव ही भोक्ता माना गया है, जो उचित ही है ।

८६. इन्द्रियाधिकरण

१ सङ्गति—मुख्यप्राण से भिन्न जब इन्द्रियों की सत्ता ही नहीं है फिर उसके अधिष्ठातृदेव की चिन्ता ही क्यों की जाये ? इस प्रकार आक्षेप होने पर यह अधिकरण आरम्भ किया गया है । इसलिए पूर्व अधिकरण के साथ इसकी आक्षेप सङ्गति है ।

२ विषय—इन्द्रियों के अस्तित्व का विचार इस अधिकरण में किया गया है ।

३. संशय—क्या इन्द्रियाँ प्राण के ही व्यापारविशेष हैं, अथवा प्राण से भिन्न इन्द्रियाँ तत्त्वान्तर हैं?

४. पूर्वपक्ष—वागादि इन्द्रियों में प्राणरूपत्व सुना गया है, प्राण नाम से वागादि इन्द्रियों को कहा जाता है । अतः प्राण के ही व्यापारविशेष वागादि इन्द्रियाँ हैं, वे स्वतन्त्र नहीं हैं ।

५. सिद्धान्त—वागादि इन्द्रियों का श्रान्त होना कहा गया है; किन्तु मुख्य प्राण का नहीं । अतः वागादि रूप और प्राण नाम इन्द्रियों के गौण हैं, आलोचक होने के कारण अन्य इन्द्रियाँ प्राण नाम से कही गयी हैं । अतः प्राण देह और इन्द्रियों का नेता है ।

८७. संज्ञामूर्तिक्लृप्त्यधिकरण

१. सङ्गति—पिछले अधिकरण में नाम-रूप के भेद से प्राण और इन्द्रियों में भेद कहा गया था, अब प्रसंगवशात् नाम-रूपव्याकरणहेतु दिखलाने के लिए यह अधिकरण आरम्भ होता है; अतः पूर्व अधिकरण के साथ इसकी प्रसंग संगति है ।

२. विषय—नाम-रूप के कर्ता का विचार इस अधिकरण में किया गया है ।

३ संशय—नाम रूप का व्याकरणकर्ता जीव है, अथवा ईश्वर है ?

४. पूर्वपक्ष—सृष्टि के बाद जीवरूप से परमेश्वर का प्रवेश कहा गया है, अतः नाम-रूप का कर्ता जीव ही है ।

५. सिद्धान्त—नाम-रूपव्याकरण का कर्ता परमेश्वर को ही मानना चाहिए जो सम्पूर्ण सृष्टि में प्रवेशकर सन्निधिमात्र से सबके साथ जुड़ा हुआ है । सम्पूर्ण जगत् की रचना में जीव असमर्थ है, ईश्वर ही समर्थ है ।

जीवान्वयः प्रवेशेन संनिधेः सर्वसर्जने । जीवोऽशक्तः शक्त ईश उत्तमोक्तिस्तथेक्षितुः ॥१८॥

(आदित. श्लो० सं० – १६०)

॥ इति द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥

॥ अथ तृतीयोऽध्यायः–प्रथमः पादः ॥

(८८) तदन्तरप्रतिपत्त्यधिकरणम् ॥१॥

अवेष्टितो वेष्टितो वा भूतसूक्ष्मैः पुमान्व्रजेत् । भूतानां सुलभत्वेन यात्यवेष्टित एव सः ॥१॥
बीजानां दुर्लभत्वेन निराधारेन्द्रियागतेः । पञ्चमाहुतितोक्तेश्च जीवस्तैर्याति वेष्टितः ॥२॥

'नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० ६-३-२) इस श्रुति के द्वारा उत्तम पुरुष का कथन तो आवेक्षणमात्र ही है, अन्य कुछ भी नहीं है।

इस प्रकार विरोधपरिहारनामक द्वितीय अध्याय के चतुर्थपाद के अधिकरणों का विचार किया गया। इसके साथ ही वैयासिक न्यायमाला द्वितीय अध्याय की कैलास पीठाधीश्वर आचार्य म० मं० श्रीमत्स्वामी विद्यानन्द गिरि द्वारा रचित ललिता व्याख्या पूर्ण हो गयी।

॥ द्वितीय अध्याय चतुर्थ पाद समाप्त ॥

❀ तृतीय अध्याय–प्रथम पाद ❀

साधनाख्य तृतीय अध्याय में सभी साधनों का विचार किया जायेगा। इसके प्रथम पाद में जीव के परलोक गमनागमन की चिन्ता वैराग्यसम्पादनार्थ की जायेगी।

प्रथमाध्याय के द्वारा ब्रह्म में जो श्रुतियों का समन्वय बतलाया गया था; उस समन्वय का द्वितीय अध्याय में स्मृति, न्याय एवं श्रुति के साथ जब परस्पर विरोध आया तब उस विरोध का निराकरणकर अनिश्चयात्मक, अप्रामाण्य का निषेध कर दिया गया। अब तृतीय अध्याय में साधनों का विचार करना है, इसलिए पूर्व अध्याय के साथ इसकी हेतु हेतुमद्भाव सङ्गति है।

८८ तदन्तरप्रतिपत्त्यधिकरण

१. सङ्गति—इससे पूर्व अधिकरण में जीव की उपाधियों का विचार किया गया, अब इस अधिकरण में तदुपजीव्य इस उपाधि से उपहित जीवात्मा में वैराग्यसम्पादनार्थ विचार करना है; इसलिए पूर्व अधिकरण के साथ इस अधिकरण की उपजीव्य-उपजीवकभाव सङ्गति है।

२. विषय - सोपाधिक जीव की गत्यागति का विचार इस अधिकरण का विषय है।

३. संशय—क्या सूक्ष्म से अपरिवेष्टित जीव परलोक में जाता है, अथवा परिवेष्टित जाता है?

४. पूर्वपक्ष—जीवात्मा के साथ इन्द्रियों का जाना जैसा सुना गया है, वैसा भूतों का जाना नहीं सुना गया है क्योंकि पञ्चभूत तो सर्वत्र सुलभ हैं; अतः भूत से अपरिवेष्टित ही जीव परलोक में जाता है।

५. सिद्धान्त—जीवात्मा के शरीरारम्भक बीज दुर्लभ होने से भूतसूक्ष्म के साथ ही जीवात्मा का शरीरान्तर ग्रहण के लिए गमन होता है। भूतसूक्ष्म का आधार लिए बिना जीवात्मा एवं उसके इन्द्रियों की गति हो भी नहीं सकती और पञ्चम आहुति की पूर्ति के लिए भी जीवात्मा भूतों से परिवेष्टित ही शरीरान्तर ग्रहण के लिए जाता है, ऐसा मानना उचित होगा।

(८९) कृतात्ययाधिकरणम् ॥२॥

स्वर्गावरोही क्षीणानुशयः सानुशयोऽथवा । यावत्संपातवचनात्क्षीणानुशय इष्यते ॥३॥
जातमात्रस्य भोगित्वादैकभव्ये विरोधतः । चरणश्रुतितः सानुशयः कर्मान्तरैरयम् ॥४॥

(९०) अनिष्टादिकार्यधिकरणम् ॥३॥

चन्द्रं याति न वा पापी ते सर्वं इति वाक्यतः । पञ्चमाहुतिलाभार्थं भोगाभावेऽपि यात्यसौ ॥५॥
भोगार्थमेव गमनमाहुतिर्व्यभिचारिणी । सर्वश्रुतिः सुकृतिनां याम्ये पापिगतिः श्रुता ॥६॥

---

(८९) कृतात्ययाधिकरण

१. सङ्गति—यागादि क्रिया से सम्बद्ध जल पाँचवी आहुति में पुरुष संज्ञा के रूप में परिणत हो जाता है, इस हेतु का आश्रय लेकर जलादि भूतसूक्ष्म से परिवेष्टित जीव का चन्द्रलोक से नीचे आना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि उस समय जीवात्मा में कर्म का अभाव हो जाता है; इस प्रकार आक्षेप होने पर इस अधिकरण को प्रारम्भ किया गया है, अतः पूर्व अधिकरण के साथ इसकी आक्षेप संगति है।

२. विषय—स्वर्ग से लौटने वाले जीवात्मा को गति का विचार इस अधिकरण का विषय है।

३. संशय—स्वर्ग से लौटने वाला जीव सम्पूर्ण कर्मफल भोगकर मर्त्यलोक में आता है अथवा कर्म के साथ ही लौटता है ?

४. पूर्वपक्ष—'यावत्सम्पातम्' इस वाक्य के आधार पर प्रारब्ध कर्मभोगपर्यन्त जीवात्मा का स्वर्ग में रहना माना गया है तत्पश्चात् निरनुशय जीव ही स्वर्ग से मर्त्यलोक में लौटता है।

५. सिद्धान्त—जिन कर्मों के फल भोगने के लिए जीवात्मा स्वर्गलोक में जाता है उन्हीं कर्मों का फल वहाँ रहकर भोगता है, शेष कर्म बने रहते हैं जिनका भोग मर्त्यलोक में आकर करना पड़ता है। इन शेष कर्मों का फलभोग एक जन्म में हो भी नहीं सकता। साथ ही 'रमणीयचरणाः' इस श्रुति के आधार पर भी अन्य कर्मों से परिवेष्टित हो जीव लौटता है, निरनुशय नहीं, क्योंकि समस्तकर्मफलभोग हो जाने पर तो जन्म हो ही नहीं सकता।

(९०) अनिष्टादिकार्यधिकरण

१ सङ्गति—केवल इष्टादि कर्म करने वाले ही चन्द्रलोक जाते हैं; ऐसी बात नहीं है; किन्तु उनसे भिन्न कर्म करने वाले का भी चन्द्रलोकगमन सम्भव है, इस प्रकार आक्षेप सङ्गति पूर्वाधिकरण के साथ इस अधिकरण की है।

२. विषय—जो इष्टादि कर्म नहीं करते ऐसे को चन्द्रलोक यात्रा इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—पापी चन्द्रलोक जाता है या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—'ते सर्व गच्छन्ति' इस वाक्य के द्वारा सभी का चन्द्रलोकगमन सुना गया है, अन्तर इतना ही है कि इष्टादिकारियों का चन्द्रलोक में भोग भी होता है और दूसरों का भोग नहीं होता। भोग न होने पर भी पञ्चम आहुति की पूर्ति के लिए पापियों का भी चन्द्रलोकगमन युक्तिसङ्गत है।

५. सिद्धान्त—चन्द्रलोकगमन भोग के लिए ही होता है। 'सर्व श्रुति पुण्यात्माओं के लिए ही कही गयी है, पापियों को तो यमलोक में यातना ही सुनी जाती है।

(६१) साभाव्यापत्त्यधिकरणम् ॥४॥

वियदादिस्वरूपत्वं तत्साम्यं वाऽवरोहिणः । वायुर्भूत्वेत्यादिवाक्यात्तत्तद्भावं प्रपद्यते ॥७॥
खंवत्सूक्ष्मो वायुवशो युक्तो धूमादिभिर्भवेत् । अन्यस्यान्यस्वरूपत्वं न मुख्यमुपपद्यते ॥८॥

(६२) नातिचिराधिकरणम् (५)

व्रीह्यादेः प्राग्विलम्बेन त्वरया वाऽवरोहति । तत्रानियम एव स्यान्नियामकविवर्जनात् ॥९॥
दुःखं व्रीह्यादिनिर्याणमिति तत्र विशेषितः । विलम्बस्तेन पूर्वत्र त्वराऽर्थादवसीयते ॥१०॥

(६३) अन्याधिष्ठिताधिकरणम् ॥६॥

व्रीह्यादौ जन्म तेषां स्यात्संश्लेषो वा जनिर्भवेत् । जायन्त इति मुख्यत्वात्पशुहिंसादिपापत ॥११॥

---

(६१) साभाव्यापत्त्यधिकरण

१. सङ्गति—इस प्रकार मार्गद्वयवर्णनसामर्थ्य से 'तृतीयं स्थानम्' इस श्रुति में आया हुआ स्थान शब्द मार्ग का उपलक्षक है, वैसा यहाँ पर 'तद्य इह' इस श्रुति में सादृश्य का उपलक्षक कुछ भी नहीं है और इस सम्बन्ध में कोई प्रमाण भी नहीं मिलता है, ऐसी प्रत्युदाहरण सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है।

२. विषय—श्रुति के मुख्यार्थ-गौणार्थ का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३ संशय—स्वर्ग से लौटने वाले जीवात्मा को आकाशादि स्वरूपत्व की प्राप्ति होती है? अथवा साम्य की?

४. पूर्वपक्ष—स्वर्ग से लौटने वाला जीवात्मा 'वायुर्भूत्वा' इत्यादि वाक्य से तत्तद्भाव को प्राप्त करता है।

५. सिद्धान्त—आकाशादि के समान सूक्ष्मरूप वायु के वशीभूत धूमादि से युक्त जीव रहता है, मुख्यरूप नहीं, क्योंकि अन्य अन्य का मुख्य नहीं हो सकता, वह तो गौण ही रहता है।

(६२) नातिचिराधिकरण

१. सङ्गति—इस प्रकार पूर्वाधिकरण में स्वर्ग से लौटने वाले जीवात्मा की सादृश्यापत्ति बतलायी गयी थी, अब उसी को उपजीव्य बनाकर अन्य बातों का भी विचार करना है। अतः पूर्व अधिकरण के साथ इसकी उपजीव्य-उपजीवकभाव संगति है।

२. विषय—आकाशसादृश्यापत्तिकाल का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३ संशय—व्रीह्यादिभावप्राप्ति से पूर्व विलम्ब से अवरोहण होता है अथवा त्वरित गति से?

४. पूर्वपक्ष—नियामक शास्त्र के अभाव में आकाशादि के साथ सादृश्यापत्ति विलम्ब अथवा अविलम्ब के सम्बन्ध में कोई नियम नहीं किया जा सकता।

५. सिद्धान्त—व्रीह्यादि में प्रविष्ट हो जाने के बाद वहाँ से निष्क्रमण कष्टकारक है, ऐसा विशेषण दिया गया है। अतः उससे पूर्व आकाशादि के साथ सादृश्यापत्ति शीघ्रता से होती है, ऐसा निश्चय करना चाहिए क्योंकि व्रीह्यादि के बाद विलम्ब से निष्क्रमण कहा गया है।

(६३) अन्याधिष्ठिताधिकरण

१. सङ्गति—यद्यपि 'दुर्निष्प्रपतरम्' शब्द से व्रीह्यादि में चिरकाल तक रहना लक्षित होता है, फिर भी प्रकृत में तिलमाषादिभाव से जो जीवात्मा का जन्म होता है वह जीव का जन्म मुख्य नहीं कहा जा सकता; ऐसी प्रत्युदाहरण संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२ विषय—स्वर्ग से लौटने वाले जीवात्मा की व्रीह्यादि जन्मप्राप्ति इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

वैधान्न पापसश्लेषः कर्मव्यापृत्यनुक्तितः । श्वविप्रादौ मुख्यजनौ चरणव्यापृतिः श्रुता ॥१२॥

(आदितः श्लोक सं०—१९०)

॥ इति तृतीयोऽध्यायः प्रथमः पादः समाप्तः ॥

❀ अथ तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ❀

(६४) सन्ध्याधिकरणम् ॥१॥

सत्या मिथ्याऽथवा स्वप्नसृष्टिः सत्या श्रुतीरणात् । जाग्रद्देशाविशिष्टत्वादीश्वरेणैव निर्मिता ॥१॥
देशकालाद्यनौचित्याद्बाधितत्वाच्च सा मृषा । अभावोक्तेर्द्वैतमात्रसाम्याज्जीवानुवादतः ॥२॥

३. संशय—स्वर्गावरोही जीव का व्रीह्यादि में जन्म संश्लेषमात्र है अथवा मुख्यरूप है ?

४. पूर्वपक्ष—'जायन्ते' इस श्रुति के आधार पर उसका व्रीह्यादि योनि में मुख्य जन्म ही मानना चाहिए, क्योंकि स्वर्गप्राप्ति के लिए यागादि का अनुष्ठान करते समय पशुहिंसादि पाप हो जाने के कारण उनके भोग के लिए स्वर्गारोही जीव का व्रीह्यादि योनियों में जन्म लेना मुख्य ही है ।

५. सिद्धान्त—विहित कर्म से पाप नहीं लगता और व्रीह्यादि योनिप्राप्ति बतलाते समय किसी कर्मव्यापार का कथन नहीं है, जिससे कि आप की कल्पना उचित मानी जा सके । हाँ, उसके बाद कुत्ते, ब्राह्मणादि योनियों में जो जन्म होता है उसमें चरणव्यापार का उल्लेख 'रमणीयचरणाः' 'कपूयचरणाः' इस वाक्यों द्वारा किया गया है । अतः वे जन्म मुख्य माने जाते हैं; किन्तु व्रीह्यादि के साथ तो स्वर्गावरोही का संश्लेषमात्र ही होता है ।

[तृतीय अध्याय—प्रथमपाद समाप्त]

* * *

❀ तृतीय अध्याय—द्वितीय पाद ❀

[इस पाद के पूर्वभाग में 'त्वम्' पदार्थ का और उत्तरभाग में 'तत्' पदार्थ का शोधन बतलाया गया है ।]

पिछले पाद में पञ्चाग्निविद्या का उदाहरण देकर जीव की गति-आगति का विचार किया गया था । अब इस द्वितीय पाद में कर्मफल से विरक्त मुमुक्षु को महावाक्यार्थज्ञान कराने के लिए 'तत्त्वम्' पदार्थ का शोधन बतलाया जाता है । इसलिए पूर्वपाद के साथ पाद को हेतुहेतुमद्भाव संगति है ।

६४. सन्ध्याधिकरण

१ सङ्गति—भिन्न पाद होने के कारण पूर्व अधिकरण के साथ इस अधिकरण की संगति बतलाना आवश्यक नहीं ।

२. विषय—जीव का स्वरूप इस अधिकरण का विचारणीय विषय है ।

३. संशय—स्वप्नसृष्टि सत्य है अथवा मिथ्या ?

४. पूर्वपक्ष—'अथ रथान् रथयोगान्पथः सृजते' इस प्रमाणभूत श्रुति के आधार पर स्वप्नसृष्टि को सत्य ही मानना चाहिए । जाग्रद् देश के समान ही स्वप्न भी ईश्वर द्वारा निर्मित होने से सत्य ही है ।

५. सिद्धान्त—शरीर के भीतर सूक्ष्म नाड़ियों में दीखने वाले स्वप्न दृश्य का होना उचित नहीं जान पड़ता और जगने पर स्वप्नदृश्य का बाध भी हो जाता है । साथ ही 'न तत्र रथाः' इस श्रुति से स्वप्न में रथादि का अभाव भी बतलाया गया है । द्वैतमात्र की समानता को लेकर जीव का अनुवाद किया गया है । अतः स्वप्न का स्रष्टा ईश्वर नहीं है, वह तो वासनामय जीव के द्वारा कल्पित है ।

(९५) तदभावाधिकरणम् ॥२॥

नाडीपुरीतद्ब्रह्माणि विकल्प्यन्ते सुषुप्तये । समुच्चितानि वैकार्थ्याद्विकल्प्यन्ते यवादिवत् ॥३॥
समुच्चितानि नाडीभिरुपसृप्य पुरीतति । हृत्स्थे ब्रह्मणि यात्येवं विकल्पे त्वष्टदोषता ॥४॥

(९६) कर्मानुस्मृतिशब्दविध्यधिकरणम् ॥३॥

यः कोऽप्यनियमेनात्र बुध्यते सुप्त एव वा । उदबिन्दुरिवाशक्तेर्नियन्तुं कोऽपि बुध्यते ॥५॥
कर्मविद्यापरिच्छेदादुदबिन्दुविलक्षणः । स एव बुध्यते शास्त्रात्तदुपायः पुनर्भवात् ॥६॥

---

९५. तदभावाधिकरण

१. सङ्गति—जीव को स्वयंप्रकाश बतलाने के लिए स्वप्न को मिथ्या कहा गया है। अब ब्रह्म के साथ अभिन्न होने योग्य सुषुप्त पुरुष कहाँ रहता है, इस बात पर विचार इस अधिकरण में किया जायेगा। अतः पूर्व के साथ इसकी एकाधिकारत्व सङ्गति है।

२. विषय—छान्दोग्य एवं बृहदारण्यक उपनिषद् में जीव का सुषुप्ति स्थान भिन्न-भिन्न बतलाया गया है, इस अधिकरण का यही विचारणीय विषय है।

३. संशय—क्या नाड़ियों में, पुरीतत् में एवं ब्रह्म में जीव की सुषुप्ति विकल्प से होती है अथवा इन स्थानों का समुच्चय है।

३. पूर्वपक्ष—उक्त अनेक प्रमाणभूत श्रुतियों को आधार मानकर इन स्थानों में जीव की सुषुप्ति विकल्प से माननी चाहिए। जिस प्रकार 'व्रीहिभिर्यजेत' 'यवैर्यजेत' इन दोनों श्रुतियों के आधार पर याग का अनुष्ठान व्रीहि और जौ से विकल्पपूर्वक ही होता है, वैसे ही अनेक स्थानों में से जीव स्वेच्छा से कहीं भी शयन कर सकता है।

५ सिद्धान्त—नाड़ियों से निकलकर पुरीतत् में और वहाँ से निकल कर हृदयस्थ ब्रह्म में जीव का शयन समुच्चयपूर्वक ही होता है। ब्रह्म में प्रवेश के लिए नाड़ियाँ एवं पुरीतत् तो द्वारमात्र है, सुषुप्ति स्थान तो एक ब्रह्म ही है। विकल्प मानने पर आठ दोष भी आते हैं।

(९६) कर्मानुस्मृतिशब्दविध्यधिकरण

१. सङ्गति—पिछले अधिकरण में ब्रह्म को जीव का स्वापस्थान बतलाया था, वह ठीक नहीं है। ऐसा मानने पर सोने वाला जीव दूसरा और जागने वाला दूसरा हो जायेगा। अतः ब्रह्म से भिन्न भी जीव का स्वाप स्थान सम्भव है, ऐसी आक्षेप सङ्गति पूर्व के साथ इस अधिकरण की है।

२. विषय—सोने वाले एवं जागने वाले जीव का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—क्या पहले दिन सोया हुआ जीव ही दूसरे दिन नियमतः जागता है अथवा कोई अन्य जीव ?

४. पूर्वपक्ष—जलाशय में डाला हुआ जल ही फिर से घट में नियमतः नहीं आता, ऐसे ही सुषुप्तावस्था में ब्रह्म को प्राप्त हुआ जीव ही जगता है ऐसा कोई नियामक नहीं है।

५. सिद्धान्त—सोया हुआ जीव ही जगता है; यह बात कर्म, प्रत्यभिज्ञा, स्मृति, शब्द तथा विधिशास्त्र से सिद्ध होती है। जिस प्रकार जल से परिपूर्ण घट को जलाशय में रख दिया जाय, उल्टा न किया जाये, तो पहले का रखा हुआ जल ही उस घट में आता है, ऐसे ही अविद्यादि उपाधि से उपहित जीव सुषुप्ति में ब्रह्म के साथ तादात्म्य प्राप्त करता है। इसलिए जगने पर अपने व्याघ्रादि स्वभाव से युक्त ही जगता है।

(९७) मुग्धेऽर्धसम्पत्त्यधिकरम् ॥४॥

किं मूर्छैका जाग्रदादौ किं वाऽवस्थान्तरं भवेत् । अन्याऽवस्था न प्रसिद्धा तेनैका जाग्रदादिषु ॥७॥
न जाग्रत्स्वप्नयोरेका द्वैताभानान्न सुप्तता । मुखादिविकृतेस्तेनावस्थाऽन्या लोकसमता ॥८॥

(९८) उभयलिङ्गाधिकरणम् ॥५॥

ब्रह्म किं रूपि चारूपं भवेन्नीरूपमेव वा । द्विविधश्रुतिसद्भावादब्रह्म स्यादुभयात्मकम् ॥९॥
नीरूपमेव वेदान्तैः प्रतिपाद्यमपूर्वतः । रूपं त्वनूद्यते भ्रान्तमुभयत्वं विरुध्यते ॥१०॥

---

(९७) मुग्धेऽर्धसम्पत्त्यधिकरण

१. सङ्गति–पूर्व अधिकरण में कर्मादि पाँच हेतुओं से सोने वाले और जागने वाले जीव में ऐक्य बतलाया गया था, वैसे ही सुषुप्ति और मूर्च्छा में भी प्रत्यभिज्ञा के बल से ऐक्य मानना चाहिए। अतः पूर्व के साथ इस अधिकरण की दृष्टान्त सङ्गति है।

२. विषय—स्वाप एवं मूर्च्छा मे ज वाभिन्नत्व इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—क्या सुषुप्त हो मूर्च्छा है अथवा मूर्च्छा सुषुप्ति से भिन्न अवस्था है ?

४. पूर्वपक्ष—मूर्च्छा को सुषुप्ति के अन्तर्गत हो मानना चाहिए क्योंकि वाह्यविषयों को संज्ञा का अभाव दोनों अवस्थाओं में तुल्य ही है।

५. सिद्धान्त—जाग्रदादि चार अवस्थाओं में से स्वप्न एवं जाग्रत् में मूर्च्छा का अन्तर्भाव नहीं कह सकते क्योंकि मूर्च्छा में संज्ञा नहीं रहती। मूर्च्छाग्रस्त व्यक्ति को मरा हुआ भी नहीं मान सकते क्योंकि उसके शरीर में प्राण एवं ऊष्मा विद्यमान रहती है। सुषुप्ति में भी मूर्च्छा का अन्तर्भाव नहीं कर सकते क्योंकि मूर्च्छाग्रस्त व्यक्ति के शरीर में कम्पन, उसकी मुखाकृति भयानक एवं नेत्र विस्फारित (फटे हुए) दिखाई देते हैं। परिशेषतः मूर्च्छा को अर्धसुषुप्ति माननी चाहिए।

(९८) उभयलिङ्गाधिकरण

१. सङ्गति–इस प्रकार तत् त्वम् पदार्थ में से त्वम् पदार्थ का विचार किया गया जो उद्देश्य है। वह स्वप्रकाश, चिद्रूप एवं सभी अवस्थाओं से अतीत है, ऐसा बतला देने के बाद अब विधेय तत् पदार्थ प्रतिपादन का प्रसङ्ग उपस्थित होता है अतः पूर्व अधिकरण के साथ इस अधिकरण की अवसर सङ्गति है।

२. विषय—ब्रह्म के स्वरूप का अवधारण इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—ब्रह्म रूपवान् है अथवा निरूप है ? ऐसा संशय उभय प्रकार की श्रुतियों के कारण होता है।

४. पूर्वपक्ष—'तदेतच्चतुष्पाद् ब्रह्म' इस श्रुति ने ब्रह्म को रूपवान् कहा है तथा 'अस्थूलमनणु' इस श्रुति ने ब्रह्म को निरूप कहा है, ऐसी प्रमाणभूत दो प्रकार की श्रुतियों के कारण ब्रह्म को उभयात्मक मानना चाहिए।

५. सिद्धान्त—वेदान्तशास्त्रप्रतिपाद्य ब्रह्म निरूप ही है क्योंकि यह मानान्तर से सिद्ध न होने के कारण अपूर्व है। जगत्कर्तृत्वादि धर्म से युक्त ब्रह्म को क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात् घटवत्, इस अनुमान से भो जाना जाता है। अतः सविशेष ब्रह्म का उपासना के लिए अनुवाद किया गया है, उसमें श्रुति का तात्पर्य नहीं है। उभयरूप मानना परस्पर विरुद्ध होने के कारण भ्रान्त है, वस्तुतः ब्रह्म निरूप ही है।

(९९) प्रकृतैतावत्त्वाधिकरणम् ॥६॥

ब्रह्मापि नेति नेतीति निषिद्धमथवा न हि । द्विरुक्त्या ब्रह्मजगती निषिध्येते उभे अपि ॥११॥
वीप्सेयमितिशब्दोक्ता सर्वदृश्यनिषिद्धये । अनिदं सत्यसत्यं च ब्रह्मैक शिष्यतेऽवधिः ॥१२॥

(१००) पराधिकरणम् ॥७॥

वस्त्वन्यद् ब्रह्मणो नो वा विद्यते ब्रह्मणोऽधिकम् । सेतुत्वोन्मानवत्त्वाच्च सम्बन्धाद्भेदवत्त्वतः ॥१३॥
धारणात्सेतुतोन्मानमुपास्त्यं भेदसंगती । उपाध्युद्भवनाशाभ्यां नान्यदन्यनिषेधतः ॥१४॥

---

(९९) प्रकृतैतावत्त्वाधिकरण

१ सङ्गति—निषेधश्रुति के बल से जैसे ब्रह्म में निर्विशेषत्व कहा गया है वैसे ही निषेध श्रुति के बल से ही ब्रह्म का निषेध क्यों न मान लिया जाय, ऐसा आक्षेप होने के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है।

२ विषय—ब्रह्म का अस्तित्वावधारण इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च' यहाँ से प्रसङ्ग प्रारम्भकर 'अथात आदेशो नेति नेति' इस श्रुति से प्रपञ्च एवं ब्रह्म दोनों का निषेध किया गया है अथवा एक का ?

४. पूर्वपक्ष—अन्यतर निषेध में विनिगमक नहीं दीखता, अतः एक 'नेति' से प्रपञ्च का निषेध और दूसरे 'नेति' शब्द से ब्रह्म का निषेध किया गया है।

५. सिद्धान्त—प्रपञ्च एवं ब्रह्म दोनों का निषेध कहना ठीक नहीं क्योंकि ऐसा मानने पर शून्यवाद का प्रसङ्ग आ जायेगा। रज्जुसर्पादि का निषेध लोक में निरवधिक नहीं देखा गया है। 'इति' शब्द से उक्त निषेधवाचक 'न' कार सर्वदृश्यनिषेध के लिए वीप्सा (व्यापक) अर्थ में कहा गया है। जो सत्य का भी सत्य है, जिसका निर्देश इदम् शब्द से हो ही नहीं सकता उस ब्रह्म का निषेध सम्भव नहीं। अत निषेध की अवधि में वही शेष रहता है, केवल मूर्त एवं अमूर्त प्रपञ्चरूप का ही 'नेति नेति' शब्द से निषेध किया गया है।

(१००) पराधिकरण

१, सङ्गति—पिछले अधिकरण में 'नेति नेति' शब्द द्वारा प्रपञ्च का निषेधकर ब्रह्म को शेष में रखा, यह ठीक नहीं है क्योंकि सेतुत्व, उन्मानादि का व्यपदेश होने से वस्त्वन्तर की सत्ता भी जान पड़ती है; ऐसा आक्षेप होने पर इस अधिकरण को प्रारम्भ किया गया है। अतः पूर्व के साथ इसकी आक्षेप सङ्गति है।

२. विषय—ब्रह्मभिन्न प्रपञ्च का निषेधकर ब्रह्म में अद्वितीयत्व का निर्धारण इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३ संशय—सेतु, उन्मानादि श्रुति एवं अद्वैत श्रुति के कारण संशय होता है कि ब्रह्म से भिन्न तात्त्विक वस्तु है या नहीं ?

४ पूर्वपक्ष—ब्रह्म से भिन्न भी तात्त्विक वस्तु है क्योंकि उसमें सेतुत्व, उन्मानादि का व्यपदेश देखा जाता है। सम्बन्ध भेद में ही हुआ करता है, अतः ब्रह्म सद्वितीय सिद्ध होता है।

५. सिद्धान्त—ब्रह्म में सेतुत्व मुख्य नहीं है, ब्रह्म को मुख्य सेतु मानने पर उसमें मृत्—दारुमयत्व का भी प्रसङ्ग आने लगेगा। विधारकत्वमात्र बतलाना अभीष्ट है, सद्वितीयत्व नहीं और वह भी उपासना के लिए। भेद व्यपदेश औपाधिक है, पारमार्थिक नहीं है। ब्रह्म से भिन्न सभी उत्पत्ति-विनाश-शील होने के कारण पारमार्थिक नहीं है, उन सबका निषेधकर अद्वैत निश्चय कराने में ही श्रुति का तात्पर्य है।

(१०१) फलाधिकरणम् ।८॥

कर्मैव फलदं यद्वा कर्माराधित ईश्वरः । अपूर्वावान्तरद्वारा कर्मणः फलदातृता ॥१५॥
अचेतनात्फलासूतेः शास्त्रीयात्पूजितेश्वरात् । कालान्तरे फलोत्पत्तेर्नापूर्वपरिकल्पना ॥१६॥

(आवृत श्लो० सं० -२०६)

॥ इति तृतीयोऽध्यायः द्वितीयः पादः समाप्तः ॥

—※—

॥ अथ तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

(१०२) सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणम् ॥१॥

सर्ववेदेष्वनेकत्वमुपास्तेरथवैकता । अनेकत्वं कौथुमादिनामधर्मविभेदतः ॥१॥

---

(१०१) फलाधिकरण

१. सङ्गति—ब्रह्मभिन्न सम्पूर्ण प्रपञ्च का निषेधकर निर्विशेष ब्रह्म का अवधारण पिछले अधिकरण में किया गया है, ऐसी स्थिति में उसमें फलदातृत्व नहीं रह जायेगा; ऐसा आक्षेप होने पर इस अधिकरण का आरम्भ हुआ है। अतः पूर्व के साथ इसकी आक्षेप सङ्गति है।

२. विषय—ब्रह्म में फलदातृत्व का निश्चय कराना इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—जीव को संसार में त्रिविध कर्मफल भोगते देखा गया है, वह फल स्वतन्त्र कर्म से मिलता है अथवा ईश्वर से मिलता है ? ऐसा संशय होता है।

४. पूर्वपक्ष—शुभाशुभ कर्म अदृष्ट द्वारा फल देने में समर्थ है, ऐसी स्थिति में ईश्वर का कर्मफल-दाता मानना युक्तियुक्त नहीं है।

५. सिद्धान्त—अचेतन कर्म अथवा तज्जन्य अपूर्व फल नहीं दे सकता। लोक में सेवादि कर्म का फल देते अचेतन को नहीं देखा गया है, प्रत्युत सेवा से पूजित राजादि पुरुष फलदाता माने गये हैं। शास्त्रसिद्ध ईश्वर को काल्पनिक कहना भी ठीक नहीं, अतः साधुकर्म असाधुकर्म का फल जीव को ईश्वर ही देता है। कर्मसापेक्ष फलदातृत्व ईश्वर में मानने के कारण उसमें वैषम्यादि दोष की कल्पना भी नहीं कर सकते।

इस प्रकार पहले चार अधिकरणों द्वारा 'त्वम्' पदार्थ का शोधन किया गया था, तत्पश्चात् चार अधिकरणों द्वारा ब्रह्म में निरूपत्व, निषेधाविषयत्व, अद्वितीयत्व एवं व्यवहारदशा में फलदातृत्व कहकर 'तत्' पदार्थ का संशोधन भी हो गया।

[तृतीय अध्याय–द्वितीय पाद समाप्त]

॥ तृतीय अध्याय—तृतीय पाद ॥

विगत पाद में वाक्यार्थज्ञान के लिए तत्-त्वम् पदार्थ का निरूपण किया गया, अब वाक्यार्थ-निर्णय के लिए हेतुहेतुमद्भाव सङ्गति के कारण यह तृतीय पाद प्रारम्भ हो रहा है। इस पाद के अन्तर्गत निर्गुण ब्रह्म में नानाशाखापठित पुनरुक्ति का उपसंहार किया गया है। प्रसङ्गतः सगुण उपासना में कहीं पर शाखान्तरीय गुणों का उपसंहार और कहीं पर अनुपसंहार भी बतलाया जायेगा, इससे चित्त की एकाग्रतापूर्वक निर्गुणवाक्यार्थज्ञान में सामर्थ्य उत्पन्न होगा।

(१०२) सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरण

१. सङ्गति—पाद भिन्न होने के कारण पिछले अधिकरण के साथ इस अधिकरण की सङ्गति अपेक्षित नहीं है।

विधिरूपफलैकत्वादेकत्वं नाम न श्रुतम् । शिरोव्रतादयधर्मस्तु स्वाध्याये स्यान्न वेदने ॥२॥

(१०३) उपसंहाराधिकरणम् ॥२॥

एकोपास्तावनाहार्या आहार्या वा गुणाः श्रुतौ । अनुक्तत्वादनाहार्या उपकारः श्रुतैर्गुणैः ॥३॥
श्रुतत्वादन्यशाखायामाहार्या अग्निहोत्रवत । विशिष्टाविद्योपकारः स्वशाखोक्तगुणैः समः ॥४॥

(१०४) अन्यथात्वाधिकरणम् ॥३॥

एका भिन्नाऽथवोद्गीथविद्या छान्दोग्यकाण्वयोः । एका स्यान्नामनामान्यात्संप्रामादिसमत्वतः ॥५॥

---

२. विषय—बृहदारण्यक तथा छान्दोग्य में पढी गयी पञ्चाग्नि विद्या का विचार इस अधिकरण में किया गया है। छान्दोग्य में आयी हुई उपासनाओं का नाम कौथुमम् है और बृहदारण्यक उपनिषदगत उपासनाओं का नाम वाजसनेयक है, पञ्चाग्नि विद्या के अतिरिक्त तद्गत उपसनाओं का नाम भी ऐसा ही रहेगा ।

३ संशय—सभी श्रुतियों में आयी हुई पञ्चाग्नि विद्या आदि उपासनायें एक हैं अथवा भिन्न है ?

४. पूर्वपक्ष—कौथुमादि नाम और शिरोव्रतादि धर्म के भेद से उपासनायें भिन्न हैं।

५. सिद्धान्त—शाखाभेद रहने पर भी विधिरूप एवं फल का अभेद होने के कारण ऐसी उपासनायें अभिन्न मानी जाती हैं छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक में 'यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद' ऐसी विधि एक सी है, पञ्चाग्नि रूप भी समान हा है एवं ज्येष्ठत्व-श्रेष्ठत्व की प्राप्तिरूप फल भी एक जैसा ही है, अत. उसमें उपासनायें अभिन्न है। शिरोव्रतादिनामक धर्म स्वाध्याय का अङ्ग है, उपासना का अंग नहीं है। अतः अभेद का कारण विद्यमान रहने से और भेद के सिद्ध न होने के कारण शाखाभेद से ऐसी उपसनायें भिन्न-भिन्न नहीं है ।

(१०३) उपसंहाराधिकरण

१ सङ्गति—सभी शाखाओं में उपासना के अभेद से फल भी अभिन्न हो होता है, यह बतलाने के के लिए फलफलीभाव संगति के कारण ही यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२. विषय—उपासनाओं के फल में भेदाभेद का विचार इस अधिकरण का विषय है।

३. संशय—क्या सर्वत्र उपासना मे एकत्व सिद्ध हो जाने पर एक शाखागत उपासना के गुणों का अन्यशाखीय उपासना में उपसंहार करना चाहिए या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—वाजसनेयक का प्राण उपासना मे रेत नामक गुण अधिक पढ़ा गया है जो छान्दोग्यगत प्राणोपासना में उपसहरणीय नहीं है, उपासना का उपकार तो स्वशाखागत गुणों से ही हो जायेगा।

५. सिद्धान्त—एक शाखागत गुणों का दूसरी शाखा में श्रवण न होने पर भी परस्पर गुणों का उपसंहार होना चाहिए। जसे अग्निहोत्र आदि अनुष्ठान में शाखान्तरीय गुणों का उपसंहार होता है, वैसे ही उपासना में भी करना चाहिए। स्वशाखागत गुणों से जिस प्रकार उपासना का उपकार होता है, ऐसे ही शाखान्तरीय गुणों के चिन्तन से भी उपासना का उपकार होगा ।

(१०४) अन्यथात्वाधिकरण

१. सङ्गति—विधि आदि की समानता से उपासना में एकत्व पहले कहा गया था, ऐसे ही 'उदगीथ विद्या' ऐसी समाख्या की समानता से भी विद्या में अभेद सिद्ध होगा। अतः पूर्व अधिकरण के साथ दृष्टान्त संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ होता है।

२. विषय—उद्गीथ विद्या के भेदाभेद का विचार इस अधिकरण में किया गया हैं।

३. संशय—छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक में आयी हुई उद्गीथ विद्या भिन्न है अथवा अभिन्न है?

उद्गीथावयवोंकार उद्गातेत्युभयोर्भिदा । वेद्यभेदेऽर्थवादादिसाम्यमत्राप्रयोजकम् ॥६॥

(१०५) व्याप्त्यधिकरणम् ॥४॥

किमध्यासोऽथवा बाध ऐक्यं वाऽथ विशेष्यता । अक्षरस्यात्र नास्त्यैक्यं नियतं हेत्वभावतः ॥७॥
वेदेषु व्याप्त ओंकार उद्गीथेन विशेष्यते । अध्यासादौ फल कल्प्यं संनिकृष्टांशलक्षणा ॥८॥

(१०६) सर्वाभेदाधिकरणम् ॥५॥

वसिष्ठत्वाद्यनाहार्यम हार्यं वैवमित्यतः । उक्तस्यैव परामर्शादनाहार्यमनुक्तितः ॥९॥

---

४. पूर्वपक्ष—उद्गीथ नाम एवं देवासुर संग्रामादि आख्यान की समानता को देखते हुए दोनों की उद्गीथ विद्या एक ही माननी चाहिए।

५. सिद्धान्त—छान्दोग्य में उद्गीथावयव ओंकार की प्राणदृष्टि से उपासना कही गयी है, किन्तु बृहदारण्यक में सम्पूर्ण उद्गीथ भक्ति की उपासना बतलायी गयी है; अतः वेद्य के भेद से उपासना भिन्न है। संग्रामादि की अभिन्नता उपासना के अभेद का प्रयोजक नहीं है क्योंकि वह अर्थवाद है। अतः दोनों शाखाओं में उद्गीथ विद्या भिन्न ही है, एक नहीं है।

(१०५) व्याप्त्यधिकरण

१. सङ्गति—'ओमित्येदक्षरमुद्गीथम्' (छा० १-१-१) इस वाक्य में ॐकार तथा उद्गीथ में विशेषणविशेष्यभाव मानकर प्रक्रम के भेद से उपासना में भेद कहा गया था, वह ठीक नहीं है; ऐसी आक्षेप सङ्गति पूर्व अधिकरण के साथ इसकी है।

२. विषय—इस अधिकरण में ॐकार तथा उद्गीथ में सामानाधिकरण्य विचारणीय विषय है।

३. संशय—क्या नाम ब्रह्म की भांति ॐकार तथा उद्गीथ में सामानाधिकरण्य अध्यासार्थ है अथवा अपवादरूप है या द्विजोत्तमो ब्राह्मणो भूसुरः की भांति मुख्यार्थक है अथवा नीलमुत्पलम् की भांति विशेषण-विशेष्य को बतलाता है?

४. पूर्वपक्ष—ॐकार तथा उद्गीथ में अभेद नियत नहीं है क्योंकि उसका कोई कारण नहीं दीखता, अतः उक्त चारों पक्षों में से किसी भी एक पक्ष का निर्धारण नहीं किया जा सकता।

५. सिद्धान्त—सम्पूर्ण वेदों में ॐकार व्याप्त है जिसमें उद्गीथ में विशेषणविशेष्यभावरूप सामानाधिकरण्य मानना ही उचित है। अध्यास पक्ष में विलक्षणा करनी पड़ेगी, अपवाद पक्ष में फलान्तर-कल्पना का प्रसङ्ग आयेगा और अभेद पक्ष में शब्दद्वय का उच्चारण व्यर्थ हो जाएगा। परिशेषतः विशेषण-विशेष्यभाव पक्ष ही श्रेष्ठ है। जब सभी वेदों में ॐकार व्याप्त है तो हम किस ॐकार की उपासना करें, ऐसा संशय होने पर 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' इस श्रुतिवाक्य द्वारा सामभक्ति उद्गीथ के अवयवरूप से ॐकार को विशेषित किया गया है। अतः ॐकार विशेष्य है और उद्गीथ उसका विशेषण है अर्थात् उद्गीथावयवरूप ॐकार की ही उपासना करनी चाहिए, ऐसा विशेषणविशेष्यभाव ॐकार एवं उद्गीथ में मानना उचित होगा।

१०६. सर्वाभेदाधिकरण

१. सङ्गति—पूर्व अधिकरण की भांति 'एव विद्वान्' इस वाक्य द्वारा प्रकृत गुणमात्रग्राहक 'एवं' शब्द से शाखान्तरीय गुणों की व्यावृत्ति हो जाती है, अतः पूर्व के साथ इसकी दृष्टान्त सङ्गति है।

२ विषय—वाजसनेयक तथा छान्दोग्य में आया हुई प्राण उपासना के भेदाभेद पर यहाँ विचार किया गया है।

प्राणद्वारेण बुद्धिस्थं वसिष्ठत्वादि तेन तत् । एवंशब्दनपरामर्शयोग्यमाहार्यमिष्यते ।।१०।।

(१०७) आनन्दाद्यधिकरणम् ।।६।।

नाऽऽहार्या उत वाऽऽहार्या आनन्दाद्या अनाहृतिः । आमनीसत्यकामादेरिवैतेषां व्यवस्थितेः ।।११।।
विधीयमानधर्माणां व्यवस्था स्याद्यथाविधि । प्रतिपत्तिफलानां तु सवशाखासु सहृतिः ।।१२।।

(१०८) आध्यानाधिकरणम् ।।७।।

सर्वा परम्पराऽक्षादेर्ज्ञेया पुरुष एव वा । ज्ञेया सर्वा श्रुतत्वेन वाक्यानि स्युर्बहूनि हि ।।१३।।

---

३. संशय—क्या प्राण उपासना के वसिष्ठत्वादि गुणों का उक्त दोनों शाखागत प्राण उपासना में उपसहार करना चाहिए या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—'य एव वेद' इस वाक्य में 'एव' शब्द से स्वशाखागत गुणों का ही परामर्श होता है, अतः प्राण उपासना में तत्तद्शाखीय गुणों का ही चिन्तन करना चाहिए।

५. सिद्धान्त—प्राण द्वारा बुद्धिस्थ वसिष्ठत्वादि गुणों का 'एवं' शब्द से परामर्श होता है क्योंकि उसमें ऐसी शक्ति है। अतः 'एव' शब्द से परामर्शयोग्य समस्त गुणों का उपसंहार प्राणोपासना में उभयशाखा के अनुसार करना चाहिए।

(१०.) आनन्दाद्यधिकरण

१. सङ्गति—सविशेष प्राण की उपासना में शाखान्तरीय वसिष्ठत्वादि गुणों का उपसंहार भले ही कर लें किन्तु निर्विशेष ब्रह्म के स्वशाखागत धर्म से ही प्रमाज्ञान हो जाने के कारण शाखान्तरीय आनन्दादि गुणों का उपसंहार करना उचित नहीं है, ऐसी प्रत्युदाहरण सङ्गति के कारण इस अधिकरण का आरम्भ हुआ है।

२. विषय— निर्विशेष ब्रह्म के आनन्दादि गुणों का उपसहार-अनुपसंहार का विचार इस अधिकरण मे किया गया है।

३. संशय—निर्गुणब्रह्मप्रतिपादक श्रुतियों में कहीं आनन्दरूपत्व, कहीं विज्ञानघनत्व, कहीं सर्वव्यापकत्व और कहीं सर्वात्मकत्व धर्म सुने जाते हैं। वे धर्म जहां जितने सुने गये हैं उतने का ही चिन्तन तत्शाखागत निर्गुण उपासना में करना चाहिए अथवा शाखान्तरीय गुणों का भी चिन्तन करना चाहिए ?

४. पूर्वपक्ष—वामनित्वादि धर्म ध्येयरूप से विधान किये गये हैं, उनका चिन्तन भले ही स्वशाखीय गुणों से पूर्ण हो जाता है; पर आनन्दरूपत्वादि धर्म का प्रतिपादन ब्रह्मबोध के लिए किया गया है, उपासना के लिए नहीं। अतः व्यवस्थापक विधि के अभाव में सर्वत्र निर्गुण उपासनाओं में शाखान्तरीय आनन्दरूपत्वादि समस्त गुणों का चिन्तन करना ही चाहिए।

(१०८) आध्यानाधिकरण

१. सङ्गति—आनन्दादि धर्म ब्रह्म रूप होने के कारण उपसंहार के योग्य थे क्योंकि वे ब्रह्मज्ञान के उपाय हैं, किन्तु जो ब्रह्मस्वरूप होते हुए भी उपसंहार के योग्य नहीं है ऐसा अर्थादिपरत्वरूप आत्मधर्म भी आत्मज्ञान का उपाय है। अतः पूर्व अधिकरण के साथ इसकी एकफलत्व सङ्गति है।

२. विषय—काठकोपनिषद् के 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था' इत्यादि वाक्य में पढ़े गये परत्व का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—क्या ये वाक्य भिन्न-भिन्न हैं अथवा आत्मपरक होने के कारण एक ही वाक्य है ?

४. पूर्वपक्ष—प्रत्येक वाक्य मे परत्व का प्रतिपादन होने के कारण ये वाक्य भिन्न-भिन्न ही हैं।

पुमर्थः पुरुषज्ञानं तत्र यत्नः श्रुतो महान् । तद्बोधाय श्रुतोऽक्षाविर्वेद्य एकः पुमांस्ततः ॥१४॥

(१०६) आत्मगृहीत्यधिकरणम् ॥८॥

(प्रथमः वर्णकम्)

आत्मा वा इदमित्यत्र विराट्स्यादथवेश्वरः । भूतासृष्टेर्नेश्वरः स्याद्गवाद्यानयनाद्विराट् ॥१५॥

भूतोपसंहृतेरीशः स्याददैतावधारणात् । अर्थवादो गवाद्युक्तिर्ब्रह्मात्मत्वं विवक्षितम् ॥१६॥

(द्वितीयः वर्णकम्)

द्वयोर्वस्त्वन्यदेकं वा काण्वच्छान्दोग्यषष्ठयोः । उभयत्र पृथग्वस्तु सदात्मस्यामुपक्रमात् ॥१७॥

---

५. सिद्धान्त—सम्यग्ज्ञान के लिए अर्थादि सभी से परे आत्मा का प्रतिपादन किया है। वहाँ पर प्रत्येक अर्थादिपरत्वेन प्रतिपाद्य नहीं है क्योंकि उसमें कोई फल नहीं है। 'निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्र-मुच्यते' इस वाक्य द्वारा इन्द्रियादियों से परे आत्मज्ञान होने पर केवल मोक्षसिद्धि प्रयोजन सुना जाता है। अतः प्रतिपाद्य के ऐक्य से इन वाक्यों का अभेद मानना ही उचित है।

आत्मगृहीत्यधिकरण

(प्रथम वर्णक)

१. सङ्गति—पूर्व अधिकरण में वाक्यभेद के भय से अर्थादि प्रत्येक में पृथक् प्रतिपाद्यत्व नहीं है, ऐसा कहा था। ऐसे ही ऐतरेय के पूर्ववाक्य में हिरण्यगर्भ का प्रसङ्ग होने के कारण वाक्यभेद के भय से उसी का आत्म शब्द से अभिधान मानना उचित होगा, ऐसी दृष्टान्त सङ्गति पिछले अधिकरण के साथ इसकी है।

२. विषय—'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किञ्चनमिषत्' (ऐत० १-१) इस वाक्य में आये हुए आत्म शब्द का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—क्या यहाँ पर आत्म शब्द से हिरण्यगर्भ को कहा गया है अथवा परमात्मा को?

४. पूर्वपक्ष—"आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविधः" (बृ० १-४-१) इस श्रुति और 'स वै शरीरी प्रथमः' इस स्मृति के अनुसार परमेश्वराधीन किसी दूसरे पुरुष के द्वारा लोकसृष्टि का अवतरण होता है। 'स ईक्षत लोकान्नु सृजा' (ऐ० १-१) इस वाक्य में लोकस्रष्टा हिरण्यगर्भ सुना गया है, भूतसृष्टि नहीं सुनी गयी है। गवादि का आनयन भी सुना जाता है। अतः हिरण्यगर्भ ही आत्म शब्द का अर्थ है।

५. सिद्धान्त—इस सृष्टिवाक्य में आत्म शब्द से परमात्मा को ही कहा गया है। जैसे 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' (तै० २-१-१) इन अन्य सृष्टिवाक्यों में परमात्मा का ही ग्रहण आत्म शब्द से होता है, वैसे ही यहाँ पर भी मानना चाहिए। भूतसृष्टि का यहाँ पर उपसंहार कर लेने पर परमात्मा का ही ग्रहण उचित होगा। गवादि आनयन तो अर्थवाद है, आत्मत्व का प्रतिपादन करना ही शास्त्र को अभीष्ट है।

(द्वितीय वर्णक)

१. सङ्गति—वाक्य की एकवाक्यता के बल से केवल आत्मा में अर्थादिपरत्व मानकर आप ने पूर्व अधिकरण में विद्यैकत्व कहा था, किन्तु वाजसनेयक और छान्दोग्य में उपक्रम के भेद से वाक्यभेद होने के कारण दोनों स्थल पर एक विद्या मानना उचित नहीं है; ऐसी प्रत्युदाहरण सङ्गति पूर्व अधिकरण के साथ इसकी है।

२. विषय—वाजसनेयक तथा छान्दोग्य में आये 'आत्म' एवं 'सत्' शब्द का विचार इस अधिकरण का विषय है।

३. संशय—'कतम आत्मा' (बृ० ४-३-७) इस श्रुति के द्वारा बृहदारण्यक में आत्म शब्द से

साधारणोऽयं सच्छब्दः स आत्मा तत्त्वमित्यतः । वाक्यशेषादात्मवाची तस्माद्वस्त्वेकमेतयोः ॥१८॥

(११०) कार्याख्यानाधिकरणम् ॥९॥

अनग्नबुद्धयाचमने विधये बुद्धिरेव वा । उभे अपि विधीयेते द्वयोरत्र श्रुतत्वतः ॥१९॥
स्मृतेराचमनं प्राप्तं प्रायत्यार्थमनूद्य तत् । अनग्नतामतिः प्राणविदोऽपूर्वा विधीयते ॥२०॥

(१११) समानाधिकरणम् ॥१०॥

शाण्डिल्यविद्या काण्वानां द्विविधैकविधाऽथवा । द्विरुक्तेरेकशाखायां द्वे विद्ये इति गम्यते ॥२१॥

जिसे कहा गया है, क्या उसी को छान्दोग्य में 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छा० ६-२-१) इस उपक्रमस्थ सद्वस्तु से कहा है अथवा भिन्न वस्तु से ?

४. पूर्वपक्ष—'सत्' शब्द और 'आत्म' शब्द लोक में समानार्थक नहीं देखे गये हैं, अतः दोनों के अर्थ में भेद होने से वस्तु भिन्न है।

५. सिद्धान्त—सच्छब्द आत्मा एवं अनात्मा दोनों अर्थ में प्रयुक्त होता है। अत: उपक्रमवाक्य में जब 'सत्' शब्द के अर्थ में सन्देह हुआ तो 'स आत्मा, तत्त्वमसि' इस वाक्यशेष में सुना गया आत्मवाची शब्द ही शब्दार्थ अर्थात् सदर्थ का वाचक है, दोनों में भेद नहीं है।

(११०) कार्याख्यानाधिकरण

१. सङ्गति—जैसे पूर्व अधिकरण में उपसंहार वाक्यानुसार संदिग्ध 'सत्' शब्द से प्रारम्भ किया गया वाक्य आत्मपरक है, वैसे ही 'आचामेत' इस वाक्यशेष के बल से 'आचामन्ति' इस वर्तमान लकार से कही गयी संदिग्ध विधि में विधित्व का निर्णय कर लेना चाहिए। इस प्रकार पूर्व अधिकरण के निर्णय को दृष्टान्त बनाकर इसका उत्थान हुआ है।

२. विषय—भोजन से पूर्व और पश्चात् किये जाने वाले आचमन का विचार इस अधिकरण का विषय है।

३. संशय—छान्दोग्य तथा वाजसनेयक में कहा है कि 'तस्मादेवंविदशिष्यन्नाचामेदशित्वाचाचा-मैतमेव तदनग्नं कुरुते' (अतः प्राणोपासक भोजन से पूर्व और भोजन के पश्चात् आचमन करे, इस प्रकार वह उपासक प्राण को अनग्न करता है।) यहाँ पर आचमन और प्राण में अनग्नता का चिन्तन, ऐसे दो अर्थ प्रतीत होते हैं। दोनों का विधान करने पर वाक्यभेद हो जायेगा और एक का विधान मानने पर सन्देह होता है कि क्या आचमन विधेय है अथवा अनग्नताचिन्तन विधेय है ?

४. पूर्वपक्ष—जब दोनों का विधान सुना जा रहा है तब आचमन तथा प्राण के अनग्नताचिन्तन, दोनों को ही विधेय मानना चाहिए।

५. सिद्धान्त—अप्राप्त अर्थ में ही शास्त्र सार्थक माना जाता है, इस न्याय से 'द्विजो नित्यमुपस्पृशेत्' इस स्मृतिवाक्य द्वारा सभी अनुष्ठान में शुद्धि के लिए आचमन तो प्राप्त ही है, उसी का यहाँ पर अनुवादकर प्राणोपासना में अनग्नताचिन्तन का विधान किया गया है। आचमन पूर्व से प्राप्त है, उसका अनुवादकर प्राणोपासक के लिए अपूर्व अनग्नताचिन्तनमात्र का ही विधान करना अभीष्ट है, अतः दोनों विधेय नहीं है।

(१११) समानाधिकरण

१. सङ्गति—पूर्व अधिकरण में स्मृतिप्रसिद्ध आचमन का अनुवादकर अनग्नताचिन्तनमात्र को विधेय कहा गया था, अब एक ही शाखा में अध्येता और वेदिता का भेदाभेद होने से पौनरुक्ति का परिहार नहीं कर सकते। अतः विप्रकृष्टदेशस्थ वाक्य में से एक को विधायक और दूसरे को

एका मनोमयत्वादिप्रत्यभिज्ञानतो भवेत्। विद्याया विधिरेकत्र स्यादन्यत्र गुणे विधिः ॥२२॥

(११२) सम्बन्धाधिकरणम् ॥११॥

संहारः स्याद्‍व्यवस्था वा नाम्नोरहरह त्विति । विद्यैकत्वेन संहारः स्यादध्यात्माधिदैवयोः ॥२३॥
तस्योपनिषदित्येवं भिन्नस्थानत्वदर्शनात् । स्थितासीनगुरूपास्त्योरिव नाम्नोर्व्यवस्थितिः ॥२४॥

अनुवादक कहना उचित नहीं होगा। ऐसी स्थिति में स्वप्रदेशस्थ गुणों से विशिष्ट विद्या का विधान मानना उचित है, ऐसी प्रत्युदाहरण सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ होता है।

२. विषय—वाजसनेयक के अग्निरहस्य में 'स आत्मानमुपासीत' इस वाक्य से शाण्डिल्य विद्या प्रतीत होती है, उसी शाखा के बृहदारण्क में 'मनोमयोऽयं पुरुषो भाः सत्यः' ऐसा पाठ मिलता है। इन दोनों में प्रतिपादित विद्या के भेदाभेद का विचार इस अधिकरण का विषय है।

३. संशय—क्या दोनों स्थलों में विद्या एक है और गुणों का उपसंहार होता है, ऐसा माना जाय अथवा विद्या का भेद एवं गुणों का अनुपसंहार माना जाय ? ऐसा संशय होता है।

४. पूर्वपक्ष—विप्रकृष्टदेशस्थ होने के कारण दोनों स्थलों में विद्या एक नहीं है और समान गुणों का पाठ होने से गुणोपसंहार भी अनावश्यक है।

५. सिद्धान्त—जैसे भिन्न शाखाओं में विद्या का अभेद और गुणों का उपसंहार होता है, ऐसे ही एक शाखा में भी विद्या का एकत्व और गुणों का उपसंहार मानना ही उचित है। समान गुणों का पाठ देख पुनरुक्ति की आशङ्का न करे, एकत्र विद्या का विधान कर अन्यत्र उसका अनुवाद करते हुए सत्यत्वादि गुणों का विधान मानना उचित ही है। 'अग्निहोत्रं जुहोति' इस वाक्य से विहित होम का अनुवादकर 'दध्ना जुहोति' इस वाक्य द्वारा दधि गुणमात्र का विधान जिस प्रकार मानते हैं, वैसे ही यहाँ सिद्धान्त में एक ही शाण्डिल्य विद्या है, दो नहीं। एक स्थान पर उपासना का विधान है तथा दूसरे स्थान पर विहित उपासना के गुणमात्र का विधान है।

(११२) सम्बन्धाधिकरण

१. सङ्गति—एक शाखा के अग्निरहस्य और बृहदारण्यक में एक वाक्य से विद्या का विधान और दूसरे वाक्य से विहित विद्या का अनुवादकर गुणमात्र का विधान जैसे पिछले अधिकरण में कहा गया, वैसे ही सत्यविद्या के एक होने पर 'अह' और 'अहं' ऐसे दो नामों का अनुष्ठान कर लेना चाहिए; ऐसी दृष्टान्त सङ्गति पूर्व के साथ इसकी है।

२. विषय—बृहदारण्यक की सत्यविद्या इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—'सत्यं ब्रह्म' बृहदारण्यक की इस सत्यविद्या में अधिदैव दृष्टि से 'अहः' इस नाम का और अध्यात्म दृष्टि से 'अहम्' इस नाम का ध्यान के लिए उपदेश किया गया है। वहाँ सन्देह होता है कि दोनों स्थलों में विद्या के एक होने पर दोनों नामों का चिन्तन करना चाहिए अथवा एक एक नाम का ?

४. पूर्वपक्ष—जैसे शाण्डिल्य विद्या में विभागपूर्वक पढ़े जाने पर भी एक विद्या सिद्ध हो जाने के कारण गुणों का उपसंहार माना है, वैसे ही एक विद्या से सम्बन्ध रखने के कारण 'अहः' और 'अहम्' इन दोनों नामों का अनुसन्धान करना चाहिए।

५. सिद्धान्त—आधिदैविक के लिए 'तस्योपनिषदः' इस नाम का और आध्यात्मिक सत्यविद्या में 'तस्योपनिषदहम्' इस नामविशेष का उपदेश किया गया है। अतः वेद्यवस्तु सत्यब्रह्म के एक होने पर भी स्थानविशेष में पृथक्-पृथक् नाम का पाठ होने से दोनों स्थानों पर दोनों नामों का चिन्तन नहीं करना चाहिए। जिस प्रकार लोक में गुरु के एक होने पर भी गुरु के खड़े रहने और बैठ जाने पर पृथक्-पृथक् रीति से उपासना का विधान है, वैसे ही यहाँ भी व्यवस्थापूर्वक दोनों नामों का चिन्तन करना चाहिए।

(११३) सम्भृत्यधिकरणम् ॥१२॥

आहार्या वा न वाऽन्यत्र सम्भृत्यादिविभूतयः । आहार्या ब्रह्मधर्मत्वाच्छाण्डिल्यादावथारणात् ॥२५॥
असाधारणधर्माणां प्रत्यभिज्ञाऽत्र नास्त्यतः । अनाहार्या ब्रह्ममात्रसम्बन्धोऽतिप्रसञ्जकः ॥२६॥

(११४) पुरुषविद्याधिकरणम् ॥१३॥

पुंविद्यैका विभिन्ना वा तैत्तिरीयकताण्डिनोः । मरणावभृथत्वादिसाम्यादेकेति गम्यते ॥२७॥
बहुना रूपभेदेन किंचित्साम्यस्य बाधनात् । न विद्यैक्यं तैत्तिरीये ब्रह्मविद्याप्रशंसनात् ॥२८॥

---

११३. सम्भृत्यधिकरण

१. सङ्गति—पूर्व अधिकरण के साथ इस अधिकरण की अतिदेश सङ्गति है ।

२. विषय—राणायनीयों के खिलकाण्ड में सम्भृत्यादि विभूति पढ़ी गयी है और शाण्डिल्यादि, दहरादि विद्या में आध्यात्मिक हृदयान्तरवर्ती ब्रह्म उपास्यरूप से सुना जाता है; इसी का विचार इस अधिकरण में किया गया है ।

३. संशय—सम्भृत्यादि विभूति अन्यत्र आहार्य (उपसंहार्य) है या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—ब्रह्म एक है, अतः सम्भृत्यादि गुणों का उपसंहार शाण्डिल्य एवं दहरादि विद्या में सर्वत्र होना चाहिए ।

५. सिद्धान्त—सम्भृत्यादि गुणों में से जब एक भी गुण शाण्डिल्यादि विद्या में नहीं देखा जाता है तो फिर विद्यैकत्व की प्रत्यभिज्ञा कैसे होगी और गुणों का उपसंहार भी कैसे हो सकेगा । ब्रह्म एक है, इतने मात्र से गुणों का उपसंहार मानेंगे तो अतिप्रसङ्ग होने लग जायेगा । अतः सम्भृत्यादि गुणों का उपसंहार नहीं है ।

११४. पुरुषविद्याधिकरण

१. सङ्गति—इस प्रकार असाधारण गुणों की प्रत्यभिज्ञा न होने के कारण सम्भृत्यादि गुणों से विशिष्ट विद्या में भेद पिछले अधिकरण में कहा गया था, फिर भी असाधारण मरणावभृथ गुणों से विशिष्ट पुरुष और यज्ञ के एकत्व की प्रत्यभिज्ञा होने से यहाँ पर विद्या में एकत्व मानना चाहिए; ऐसी प्रत्युदाहरण सङ्गति पिछले अधिकरण के साथ इसकी है ।

२. विषय—ताण्डि और पैङ्गि रहस्य ब्राह्मण के पुरुषयज्ञ का विचार इस अधिकरण में किया गया है ।

३. संशय—तैत्तिरीयक और ताण्डि में पुरुषविद्या एक है या भिन्न है ?

४. पूर्वपक्ष—'यन्मरणं तदवभृथः' 'मरणमेवावभृथः' इन दोनों ही स्थलों में मरणावभृथत्वादि की समानता होने से विद्या एक है ।

५. सिद्धान्त—वेद्यरूप का बहुधा भेद होने के कारण किञ्चित् साम्य बाधित हो जायेगा, अतः ताण्डि और पैङ्गि की पुरुषविद्या एक नहीं है । इसीलिए विद्या के भेद से शाखान्तरीय पठित पुरुषविद्या के धर्म आशीर्मन्त्रादि की तैत्तिरीयक में प्राप्ति नहीं है अतः विद्यैकत्व की शङ्का भी यहाँ नहीं करनी चाहिए ।

(११५) वेधाद्यधिकरणम् ॥१४॥

वेधमन्त्रप्रवर्ग्यादि विद्याङ्गमथवा न तु । विद्यासंनिधिपाठेन विद्याङ्गं मन्त्रकर्मणि ॥२९॥
लिङ्गेनान्यत्र मन्त्राणां वाक्येनापि च कर्मणाम् । विनियोगात्संनिधिस्तु बाध्योऽतो नाङ्गता तयोः ॥३०॥

(११६) हान्यधिकरणम् ॥१५॥

(प्रथमः वर्णकम्)

उपायनमनाहार्यं हानायाऽऽह्रियतेऽथवा । अश्रुतत्वादनाक्षेपाद्विद्याभेदाच्च नाऽऽहृतिः ॥३१॥

---

(११५) वेधाद्यधिकरण

१. सङ्गति—जैसे आत्मविद्या के सन्निहित होने से पुरुषयज्ञ आत्मविद्या का शेष माना गया है, ऐसे ही सन्निहित होने के कारण मन्त्र और कर्म को भी तत्तद् विद्या का शेष मानना चाहिए, ऐसी दृष्टान्त सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२ विषय—विद्या के समीपवर्ती वेधादि मन्त्र और प्रवर्ग्यादि कर्म इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—क्या आथर्वणिकों के उपनिषदारम्भ में 'सर्वं प्रविध्य हृदयं प्रविध्य' इत्यादि आभिचारिक मन्त्र और काण्वों के उपनिषदारम्भ में पढ़ा गया प्रवर्ग्यादि कर्म विद्या के अङ्ग हैं या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—विद्याप्रधान उपनिषद् ग्रन्थ के समीप में पढ़े जाने के कारण वेधादि मन्त्र और प्रवर्ग्यादि कर्म को विद्या का अङ्ग मानना चाहिए।

५. सिद्धान्त—लिङ्ग प्रमाण से मन्त्रों का विनियोग आभिचारिक कर्म में हो चुका है और वाक्य प्रमाण से प्रवर्ग्यादि कर्म का विनियोग अग्निष्टोम में हो चुका है, अतः लिङ्ग और वाक्य प्रमाण सन्निधिरूप प्रकरण प्रमाण से बलवान होने के कारण वेधादि मन्त्र और प्रवर्ग्यादि कर्म को विद्या का अङ्ग नहीं मान सकते।

(११६) हान्यधिकरण

(प्रथम वर्णक)

१. सङ्गति—पिछले अधिकरण में विद्यासन्निहित भी मन्त्रों का, अनावश्यक होने से, उपासना में उपसंहार नहीं बतलाया गया था; वैसे ही अनावश्यक होने से हान की सन्निधि में पढ़ गये उपादान को भी हान का अङ्ग नहीं मानना चाहिए अर्थात् उपादान के बिना भी हान का होना सम्भव है। अतः उपादान का उपसंहार अनावश्यक है, ऐसी दृष्टान्त सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ होता है।

२. विषय—ज्ञानी के पुण्यपापादि कर्मों के हानोपादान पर इस अधिकरण में विचार किया गया है।

३. संशय—शाट्यायनी में कहा गया है कि 'ज्ञानी के पुत्रस्थानीय सभी प्राणी उसके वित्तस्थानीय कर्म को यथायोग्य ग्रहण कर लेते हैं।' ताण्डी में कहा है कि 'जैसे घोड़ा अपने शरीर के रोये को झाड़ देता है और जैसे राहु के मुख से चन्द्रमा मुक्त हो जाता है, ऐसे हो ज्ञानी सम्पूर्ण पुण्य-पाप को छोड़ देता है। उसी प्रकार आथर्वणिकों ने कहा है कि 'उस समय ज्ञानी पुण्य-पाप दोनों का परित्यागकर भावीजन्म के कारण से रहित हो परमसाम्य को प्राप्त करता है।' यहाँ पर सन्देह होता है कि ज्ञानी के पुण्य पाप का हान एवं उपादान सभी स्थलों पर समान रूप से होता है या नहीं होता ?

विद्याभेदेऽप्यर्थवाद आहार्यः स्तुतिसाम्यतः । हानस्य प्रत्यभिज्ञानादेकविंशादिवादवत् ॥३२॥

(द्वितीयवर्णकम्)

विधूननं चालनं स्याद्धानं वा चालनं भवेत् । दोधूयन्ते ध्वजाग्राणीत्यादौ चालनदर्शनात् ॥३३॥
हानमेव भवेद्वाक्यशेषेऽन्योपायनश्रवात् । कर्त्रा न ह्यपरित्यक्तमन्यः स्वीकर्तुमर्हति ॥३४॥

(११७) साम्परायाधिकरणम् ॥१६॥

कर्मत्यागो मार्गमध्ये यदि वा मरणात्पुरा । उत्तीर्य विरजां त्यागस्तथा कौषीतकीश्रुतेः ॥३५॥

---

४. पूर्वपक्ष—अश्रुत होने से, आक्षेप अनावश्यक होने के कारण और विद्या के भेद से सर्वत्र हानोपादान का उपसंहार नहीं होता।

५. सिद्धान्त—विद्याभेद होने पर भी स्तुति की समानता के कारण उपसंहार अर्थवाद के रूप में करना चाहिए क्योंकि हान की प्रत्यभिज्ञा तो सर्वत्र होती ही है। इसीलिए अथवाद होने पर भी उपादान उपसंहार के योग्य है।

(द्वितीय वर्णक)

१. सङ्गति—पहले विद्या की सन्निधि में पढ़े गये मन्त्रादि को जैसे अकिञ्चित्कर कहा था, वैसे ही विधूनन शब्द उपायन शब्द की सन्निधि में अप्रयोजक होने से अकिञ्चित्कर है; ऐसी दृष्टान्त सङ्गति पिछले अधिकरण के साथ इसकी है।

२. विषय—'विधूनन' शब्द के अर्थ का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—क्या 'विधूनन' शब्द का अर्थ चालन है अथवा हान है?

४. पूर्वपक्ष—'दोधूयन्ते ध्वजाग्राणि' इस वाक्य से धूञ् धातु का अर्थ चालन होने से 'विधूनन' का अर्थ चालन ही मानना चाहिए।

५. सिद्धान्त—'विधूनन' शब्द का अर्थ हान ही करना चाहिए क्योंकि वाक्यशेष में अन्य के द्वारा उसका ग्रहण करना सुना गया है। जब तक कोई त्याग नहीं करता, तो उसका ग्रहण दूसरा कैसे कर सकता है। अतः विधूनन शब्द का अर्थ त्याग ही करना चाहिए।

(११७) साम्परायाधिकरण

१. सङ्गति—यदि विद्या कर्मनाश का हेतु होती तो केवल हानश्रवणस्थल में भी उपायन का उपसंहार किया जा सकता था, पर अभी तक विद्या में कर्मनाशहेतुत्व ही सिद्ध नहीं हो सकी है। इस प्रकार आक्षेप होने पर यह अधिकरण प्रारम्भ करते हैं, इसलिए पूर्व अधिकरण के साथ इसकी आक्षेप सङ्गति है।

२. विषय—विद्यासामर्थ्य का विचार इस अधिकरण का विषय है।

३. संशय—पर्यङ्कविद्या में पर्यङ्क उपासक के लिए सुकृतादि का विधूनन सुना जाता है, क्या वह विरजा नदी सन्तरण के बाद आधे मार्ग में होता है अथवा देहत्याग से पूर्वकाल में होता है?

४. पूर्वपक्ष—'स आगच्छति विरजां नदीं तां मनसैवात्येति तत्सुकृतदुष्कृते विधूनुते' (वह ब्रह्मलोक का यात्री विरजा नदी के पास आता है और उसे मन से ही पार कर जाता है, तत्पश्चात् वहाँ पर वह पुण्य-पाप को छोड़ देता है) इस श्रुति के आधार पर विरजा नदी सन्तरण के बाद ही पुण्य-पाप का परित्याग वह यात्री करता है।

कर्मप्राप्यफलाभावान्मध्ये साधनवर्जनात् । ताण्डिश्रुतेः पुरा त्यागो बाध्यः कौषीतकीक्रमः ॥३६॥

(११८) गतेरर्थवत्त्वाधिकरणम् ॥१७॥

उपास्तिबोधयोर्मार्गः समो यद्वा व्यवस्थितः । सम एवोत्तरो मार्ग एतयोः कर्महानवत् ॥३७॥
देशान्तरफलप्राप्त्यै युक्तो मार्ग उपास्तिषु । आरोग्यवद्बोधफलं तेन मार्गो व्यवस्थितः ॥३८॥

(११९) अनियमाधिकरणम् ॥१८॥

मार्गः श्रुतस्थलेष्वेव सर्वोपास्तिषु वा भवेत् । श्रुतेष्वेव प्रकरणाद्द्विःपाठोऽस्य वृथाऽन्यथा ॥३९॥

---

५. सिद्धान्त—ब्रह्मलोक मार्ग के मध्य में ब्रह्मप्राप्ति से भिन्न पुण्य-पाप के द्वारा प्राप्तव्य कोई फल नहीं दीखता है, फिर भला उन पुण्य-पापों को विरजानदीपर्यन्त वह ब्रह्मलोकयात्री निरर्थक क्यों ले जायेगा। साथ ही, मरण से पूर्व जिस पुण्य-पाप का परित्याग कर चुका है उनके, मार्ग के मध्य में, पुनः परित्याग का साधन भी सम्भव नहीं है। उस समय उसका स्थूल शरीर नहीं है जिससे कि किसी साधन का अनुष्ठान कर सके। यदि कहो कि मरण से पूर्व पुण्य-पाप के त्यागने में प्रमाण नहीं दीखता है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि 'अश्व इव रोमाणि विधूय पापम्' यह ताण्डिश्रुति ही उक्त विषय में प्रमाण है। अतः उक्त श्रुति से नदीसन्तरण के बाद पुण्य-पाप का परित्यागरूप कर्म कौषीतकि श्रुति ने जो कहा है उसका बाध समझना चाहिए। इसलिए मरण से पूर्व ही उपास्य का साक्षात्कार हो जाने पर पुण्य-पाप का परित्याग निश्चित होता है।

(११८) गतेरर्थवत्त्वाधिकरण

१. सङ्गति—विद्या से कर्महान विषय प्रासङ्गिक था जिसे बतला देने के बाद, जिस प्रकार हान की सन्निधि में कहीं कहीं पर सुने गये उपायन का सर्वत्र उपसंहार बतला दिया गया, वैसे ही हान की सन्निधि में सुने गये क्वचित्क देवयान मार्ग का सर्वत्र उपसंहार करना चाहिए; ऐसी दृष्टान्त सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ करते हैं।

२. विषय—देवयान मार्ग के उपसंहारस्थल का विचार इस अधिकरण का विषय है।

३. संशय—उपासना और ज्ञान मार्ग दोनों ही में देवयान मार्ग की व्यवस्था है अथवा केवल उपासना में ही है?

४. पूर्वपक्ष—देवयान मार्ग सगुण ब्रह्म उपासक और निर्गुण ब्रह्मज्ञानी दोनों के लिए समान रूप से बतलाया गया है। जैसे पुण्य-पाप कर्म का हान दोनों के लिए समान है, ऐसे ही देवयान मार्ग भी दोनों के लिए तुल्य ही है।

५. सिद्धान्त—उपासना से ब्रह्मलोक फल प्राप्त होता है जो देशान्तरवर्ती है, अतः यहाँ पर देवयान मार्ग की आवश्यकता है। किन्तु रोगनिवृत्ति की भाँति ब्रह्मज्ञान का फल अविद्या-निवृत्तिमात्र है, वहाँ मार्ग का कोई प्रयोजन नहीं है। अतः उपासक के लिए ही देवयान मार्ग है, ब्रह्मज्ञानी के लिए नहीं; ऐसी व्यवस्था समझनी चाहिए।

(११९) अनियमाधिकरण

१. सङ्गति—इस प्रकार जैसे सगुण विद्या में मार्ग की सार्थकता है, निर्गुण विद्या में नहीं; वैसे ही सगुण विद्या में भी कहीं मार्ग सुना जाता है, कहीं नहीं सुना जाता है। ऐसी स्थिति में इसकी व्यवस्था होनी चाहिए, अतः पूर्व अधिकरण के साथ इसकी दृष्टान्त सङ्गति है।

२ विषय—सभी सगुण उपासनाओं में मार्ग की आवश्यकता पर इस अधिकरण में विचार किया गया है।

प्रोक्तो विद्यान्तरे मार्गो ये चेम इति वाक्यतः । तेन बाध्यं प्रकरणं द्विःपाठश्चिन्तनाय हि ॥४०॥

(१२०) यावदधिकाराधिकरणम् ॥१९॥

ब्रह्मतत्त्वविदां मुक्तिः पाक्षिकी नियताऽथवा । पाक्षिक्यपान्तरतमःप्रभृतेर्जन्मकीर्तनात् ॥४१॥
नानादेहोपभोक्तव्यमीशोपास्तिफलं बुधाः । भुक्त्वाऽधिकारिपुरुषा मुच्यन्ते नियता ततः ॥४२॥

---

३. संशय—छान्दोग्य की पञ्चाग्नि विद्या और उपकोसल विद्या में देवयान मार्ग पढ़ा गया है, किन्तु शाण्डिल्य और वैश्वानर विद्या में देवयान मार्ग नहीं पढ़ा गया है। ऐसी स्थिति में यह सन्देह होता है कि यथाश्रुतस्थल में ही मार्ग का नियम है अथवा अश्रुतस्थल में भी मार्ग का उपसंहार करना चाहिए ?

४. पूर्वपक्ष—यदि सभी सगुण विद्याओं में मार्ग का उपसंहार करना अभीष्ट होता तो एक स्थान पर मार्ग का पाठ रहने मात्र से ही सर्वत्र उपसंहार सम्भव था, दो विद्या में मार्ग का पाठ निरर्थक हो जाता। अतः यथाश्रुतस्थल में ही मार्ग का चिन्तन करना चाहिए, सर्वत्र नहीं।

५. सिद्धान्त—पञ्चाग्निविद्या के वाक्यशेष में उसके उपासक के लिए उत्तर मार्ग बतलाती हुई श्रुति ने अन्य विद्या के उपासकों के लिए भी कण्ठतः अर्चिरादि (देवयान) मार्ग का कथन किया है। 'जो इस प्रकार उपासना करते हैं और जो अरण्य में रह कर श्रद्धा एवं तप की उपासना करते हैं वे सभी अर्चि को प्राप्त करते हैं' इस मार्गप्रतिपादक वाक्य से प्रकरण को बाध लेना चाहिए। उपास्य के गुणों का चिन्तन करते समय उपासना के फल की प्राप्ति के लिए मार्ग का चिन्तन भी अनिवार्य कहा गया है। अतः सभी सगुण उपासनाओं में देवयान मार्ग का उपसंहार करना चाहिए।

(१२०) यावदधिकाराधिकरण

१. सङ्गति—निर्गुण ब्रह्मविद्या का फल मोक्ष है इसलिए उसमें मार्ग व्यर्थ ही है, ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि इतिहासादि में कुछ ब्रह्मज्ञानियों को भी देहान्तर-उत्पत्ति देखी जाती है। अतः निर्गुण ब्रह्म विद्या को मोक्ष का साधन कहना ठीक नहीं है,इस प्रकार आक्षेप होने पर यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है। अतः पूर्व अधिकरण के साथ इसकी आक्षेप सङ्गति है।

२. विषय—निर्गुण ब्रह्मविद्या की फलप्राप्ति के लिए देवयान मार्ग की आवश्यकता पर विचार करना इस अधिकरण का विषय है।

३. संशय—ब्रह्मज्ञानियों की मुक्ति वैकल्पिक है अथवा निश्चित है ?

४. पूर्वपक्ष—पुराणों में अपान्तरतमानामक वेदप्रवर्तक आचार्य विष्णु की आज्ञा से द्वापर के अन्त में कृष्णद्वैपायनरूप से शरीर धारण करते देखे जाते हैं। वैसे ही सनत्कुमार स्कन्दरूप से उमा-महेश्वर के घर में जन्म लेते हैं। इसी प्रकार वसिष्ठादि तत्त्वज्ञानी होते हुए भी कहीं शाप से, कहीं स्वेच्छा से भी शरीर धारण करते देखे जाते हैं। इससे निर्गुण ब्रह्मज्ञानियों की मुक्ति वैकल्पिक सिद्ध होती है।

५. सिद्धान्त—पूर्वपक्षी ने जिन पुरुषों का उदाहरण दिया है वे सब जगन्निर्वाहक माने जाते हैं जिन्होंने पूर्वकल्प में महान् तपश्चर्या द्वारा ईश्वर की उपासनाकर इस कल्प में नाना देह से उपभोग-योग्य अधिकार पद को प्राप्त किये हैं, यह उनके प्रारब्ध हैं, इस प्रारब्ध के क्षीण होने पर वे भी मुक्त हो जायेंगे। अनारब्ध कर्मों का नाश तत्त्वज्ञान से हो जाता है और प्रारब्ध कर्म का नाश भोग से होता है, तत्पश्चात् निर्गुण ब्रह्मज्ञानी की मुक्ति सुनिश्चित ही होती है।

(१२१) अक्षरध्यधिकरणम् ॥२०॥

निषेधानामसंहारः संहारो वा न संहृतिः । आनन्दादिवदात्मत्वं नैषां संभाव्यते यतः ॥४३॥
श्रुतानामाहृतानां च निषेधानां समायतः । आत्मलक्षणता तस्माद्दाढर्यायास्तूपसंहृतिः ॥४४॥

(१२२) इयदधिकरणम् ॥२१॥

पिबन्तौ द्वा सुपर्णेति द्वे विद्ये अथर्वकठा । भोक्तारौ भोक्त्रभोक्तारावििति विद्ये उभे इमे ॥४५॥
पिबन्तौ भोक्त्रभोक्तारावित्युक्तं हि समन्वये । इयत्ताप्रत्यभिज्ञानाद्विद्यैका मन्त्रयोर्द्वयोः ॥४६॥

---

(१२१) अक्षरध्यधिकरण

१. सङ्गति—जैसे धनुष से निकला हुआ बाण अपना काम करके ही रहता है ऐसे ही आधिकारिक पुरुषों के प्रारब्धकर्मवेग से ही देहान्तर की उत्पत्ति होती है, उसमें सञ्चित कर्म को कारण नहीं कहा गया है। उसी प्रकार जहाँ पर जितनी निषेध श्रुतियाँ हैं उन्हीं से उपलक्षणविधया सर्वद्वैतनिषेध सिद्ध हो जायेगा, शाखान्तरीय निषेधों को ब्रह्मबोध का हेतु नहीं मानना चाहिए; ऐसी दृष्टान्त सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है।

२ विषय—निषेधश्रुतियों के उपसंहारस्थल पर इस अधिकरण में विचार किया गया है।

३. संशय—सर्वत्र पठित निषेधश्रुति की यथास्थान व्यवस्था होनी चाहिए अथवा सर्वत्र सभी निषेध श्रुतियों का उपसंहार होना चाहिए ?

४. पूर्वपक्ष—"अस्थूलमनण्वह्रस्वम्" इत्यादि वाक्य द्वारा गार्गी ब्राह्मण में और 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' इत्यादि वाक्य द्वारा कठ श्रुति में जो निषेध करके ब्रह्मावबोध कराया गया है; ऐसे ही अन्य श्रुतियाँ भी हैं। इन सभी निषेधश्रुतियों के सर्वत्र उपसंहार का कोई प्रयोजन न होने के कारण जहाँ पर जितना निषेध है उसी से उपलक्षणतया सकल द्वैत का निषेध हो जायेगा, अन्यत्र पठित द्वैतनिषेधश्रुति का उपसंहार अन्यत्र निष्प्रयोजन ही है। क्योंकि वे आनन्दादि के समान ब्रह्मरूप नहीं है।

५. सिद्धान्त—निषेध श्रुतियाँ, श्रुत हों अथवा आहृत हों, सभी एक जैसी हैं। अतः आत्मबोध की दृढ़ता के लिए द्वैतनिषेधश्रुतियों का उपसंहार सर्वत्र होना चाहिए।

(१२२) इयदधिकरण

१. सङ्गति—पहले प्रतिपाद्य ब्रह्म की प्रत्यभिज्ञा होने के कारण सर्वत्र निर्गुण ब्रह्मविद्या एक ही है, अतः निषेधश्रुतियों का सर्वत्र उपसंहार कहा गया था, किन्तु इस अधिकरण में प्रतिपाद्य वस्तु का भेद होने से विद्या भिन्न है; इस प्रकार प्रत्युदाहरण सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ करते हैं।

२. विषय—मुण्डक तथा कठश्रुति में कही गयी ब्रह्मविद्या के भेदाभेद पर इस अधिकरण में विचार किया गया है।

३. संशय—'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' इस मुण्डक श्रुति तथा 'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके' इस कठ श्रुति में बतलायी गयी विद्या एक है अथवा भिन्न है ?

४. पूर्वपक्ष—एक स्थान पर एक भोक्ता और दूसरे स्थान पर दो भोक्ता बतलाये गये हैं, इस प्रकार भेद देख जाने के कारण विद्या भिन्न है।

५. सिद्धान्त—प्रथमाध्याय-द्वितीयपाद के तृतीय अधिकरण में 'पिबन्तौ' शब्द जीव एवं ब्रह्मपरक होने से उसका भोक्ता और अभोक्ता अर्थ किया गया है। अतः वेद्यवस्तु में भेद नहीं है और द्वित्व संख्या की प्रत्यभिज्ञा उभयत्र समान रूप से होती है, इसलिए उक्त दोनों स्थलों में विद्या एक ही है।

(१२३) अन्तरत्वाधिकरणम् ॥२२॥

विद्याभेदोऽथ विद्यैक्यं स्यादुषस्तकहोलयोः । समानस्य द्विराम्नानाद्विद्याभेदः प्रतीयते ॥४७॥
सर्वान्तरत्वमुभयोरस्ति विद्यैकता ततः । शङ्काविशेषनुत्यै द्विःपाठस्तत्त्वमसीतिवत् ॥४८॥

(१२४) व्यतिहाराधिकरणम् ॥२३॥

व्यतिहारे स्वात्मरव्योरेकधा धीरुत द्विधा । वस्त्वैक्यादेकधैक्यस्य दार्ढ्याय व्यतिहारगीः ॥४९॥
ऐक्येऽपि व्यतिहारोक्त्या धीर्द्वधेशस्य जीवता । युक्तोपास्त्यै वाचनिकी मूर्तिवद्दार्ढ्यमार्थिकम् ॥५०॥

---

(१२३) अन्तराधिकरण

१. सङ्गति—पिछले अधिकरण में 'पिबन्तौ' इस पद को लाक्षणिक मानकर दोनों ही मन्त्रों में भोक्ता और अभोक्ता अर्थ कर लेने से विद्या एक ही सिद्ध की गयी थी, पर यहाँ अर्थ का अभेद होने पर भी विद्या एक इसलिए नहीं मानी जायेगी क्योंकि पुनरावृत्ति देखी जाती है; इस प्रकार प्रत्युदाहरण सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है ।

२. विषय—बृहदारण्यक के उषस्त और कहोल ब्राह्मण में प्रतिपादित विद्या के भेदाभेद पर इस अधिकरण में विचार किया गया है ।

३ संशय—क्या उषस्त और कहोल ब्राह्मण में प्रतिपादित विद्या एक है अथवा भिन्न है ?

४. पूर्वपक्ष—"यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः" ऐसा दो बार पाठ एक ही वाजसनेय शाखा के उषस्त एवं कहोल ब्राह्मण में आया हैं, अतः पुनरुक्तिपरिहार के लिए इन दोनों स्थानों में विद्या भिन्न माननी चाहिए ।

५. सिद्धान्त—दोनों स्थानों में सर्वान्तरत्व समान रूप से कहा गया है, अतः वेद्यवस्तु का अभेद होने के कारण विद्या एक है । विशेष शङ्का की निवृत्ति के लिए दो बार पाठ वैसे ही किया गया है जैसे 'तत्त्वमसि' महावाक्य का पाठ नौ बार किया गया है ।

(१२४) व्यतिहाराधिकरण

१. सङ्गति–पिछले अधिकरण में विद्या के एक होने पर भी अभ्यास आदरार्थ बतलाया गया था, वैसे ही जीव एवं ईश्वर के परस्पर विशेषण-विशेष्य भावरूपव्यतिहार-उपदेश आदरार्थ होने के कारण ऐतरेयक में विद्या एक माननी चाहिए; इस प्रकार दृष्टान्त सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है ।

२. विषय—ऐतरेयक श्रुति में आये हुए व्यतिहार पर इस अधिकरण में विचार किया गया है ।

३. संशय—"तद्योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहं" ऐसा आदित्यपुरुष के प्रसङ्ग में पाठ मिलता है, इससे यह संशय होता है कि यहाँ पर व्यतिहाररूपा मनोवृत्ति दो प्रकार की बनानी चाहिए अथवा एक ही प्रकार की ?

४. पूर्वपक्ष—वस्तु अभिन्न होने के कारण एक प्रकार की ही मनोवृत्ति बनानी चाहिए, व्यतिहार तो केवल दृढ़ता के लिए कहा गया है ।

५. सिद्धान्त—वस्तु के एक होने पर भी व्यतिहार कथन होने से उपास्यविषयक बुद्धि दो प्रकार से करनी चाहिए । जैसे चतुर्भुज आदि मूर्तियों का चिन्तन भिन्न-भिन्न प्रकार से किया जाता है, ऐसे ही यहाँ भी भिन्न प्रकार से चिन्तन करना चाहिए, दार्ढ्य तो अर्थतः सिद्ध हो जायेगा ।

(१२५) सत्याद्यधिकरणम् ॥२४॥

द्वे सत्यविद्ये एका वा अक्षरव्यादिवाक्ययोः । फलभेदादुभे लोकजयात्पापहतेः पृथक् ॥५१॥
प्रकृताकर्षणादेका पापघातोऽङ्गधीफलम् । अर्थवादोऽथवा मुख्यो युक्तोऽधिकृतकल्पकः ॥५२॥

(१२६) कामाद्यधिकाराधिकरणम् ॥२५॥

असहृतिः संहृतिर्वा व्योम्नोदह्रहार्दयोः । उपास्यज्ञेयभेदेन तद्गुणानामसंहृतिः ॥५३॥

---

(१२५) सत्याद्यधिकरण

१. सङ्गति—पिछले अधिकरण में जीव-ब्रह्म के व्यतिहार उपदेश भेद के कारण दो प्रकार की मनोवृत्ति बनाने के लिए कहा था, ऐसे ही यहाँ भी 'जयतीमान् लोकान् हन्ति पाप्मानम्' इस श्रुति में लोकजय और पापहननरूप फलकथन से विद्या में भेद सिद्ध होता है; इस प्रकार दृष्टान्त सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२ विषय—अधिदैव और अध्यात्म स्थल के भेद से सत्यविद्या के भेदाभेद पर इस अधिकरण में विचार किया गया है?

३. संशय—वाजसनेयक में सत्यविद्याविधान के पश्चात् आदित्य मण्डल और दक्षिण नेत्र में जिस सत्य पुरुष की उपासना कही गयी है, इन दोनों स्थलों में उपास्य सत्य पुरुष एक है अथवा भिन्न है?

४. पूर्वपक्ष—फलभेद के कारण विद्या भिन्न माननी पड़ेगी, चाहे उपास्य एक ही हो।

५. सिद्धान्त—सत्यविद्या एक ही है क्योंकि उपास्य हिरण्यगर्भ दोनों स्थानों में अभिन्न हैं, फलभेद तो अङ्गोपासना का है, उसे अर्थवाद भी माना जा सकता है। मुख्य फल हिरण्यगर्भ की प्राप्ति है, वह एक ही है। अत. सत्यविद्या एक होने के कारण सत्यादि गुणों का उपसंहार एक ही सत्यब्रह्म में करना चाहिए।

(१२६) कामाद्यधिकाराधिकरण

१. सङ्गति—पिछले अधिकरण में 'तद्यत्तत्सत्यम्' इस वाक्य द्वारा प्रसङ्गागत पदार्थ का आकर्षण होने से उपास्यरूप का अभेद सिद्ध हुआ था, इसीलिए अधिदैव एवं अध्यात्म मण्डल में सत्यादि गुणों का उपसंहार कहा गया था; किन्तु यहाँ पर कहीं कहीं आकाश को उपास्य कहा और कहीं आकाशाश्रित को ज्ञेय बतलाया गया है। इस प्रकार उपास्य के रूप भिन्न होने से गुणों का उपसंहार अभीष्ट नहीं है, ऐसी प्रत्युदाहरण सङ्गति पूर्व के साथ इसकी है।

२. विषय—आकाश एवं तदाश्रित विद्या के वेद्यवस्तु पर इस अधिकरण में विचार किया गया है।

३ संशय—छान्दोग्य की दहर विद्या में अपहतपाप्मत्वादि गुण पढ़े गये हैं और वाजसनेय के हार्दविद्या में सर्ववशित्वादि गुण पढ़े गये हैं, इन दोनों स्थलों में हार्दविद्या भिन्न है अथवा अभिन्न है? अभिन्न होने पर भी गुणों का उपसंहार होना चाहिए अथवा नहीं?

४. पूर्वपक्ष—उक्त दोनों श्रुतियों में विद्या भिन्न होने के कारण गुणों का उपसंहार नहीं होना चाहिए क्योंकि एकत्र दहराकाश उपास्य है और अन्यत्र हार्दब्रह्म ज्ञेय है।

उपास्त्यै क्वचिदन्यत्र स्तुतये चास्तु संहृतिः । दहराकाश आत्मैव हृदाकाशोऽपि नेतरः ॥५४॥

(१२७) आदराधिकरणम् ॥२६॥

न लुप्यते लुप्यते वा प्राणाहुतिरभोजने । न लुप्यतेऽतिथिः पूर्वं भुञ्जीतेत्यादरोक्तितः ॥५५॥
भुज्यर्थान्नोपजीवित्वात्तल्लोपे लोप इष्यते । भुक्तिपक्षे पूर्वभुक्तावादरोऽप्युपपद्यते ॥५६॥

(१२८) तन्निर्धारणाधिकरणम् ॥२७॥

नित्या अङ्गावबद्धाः स्युः कर्मस्वनियता उत । पर्णवत्क्रतुसंबन्धो वाक्यान्नित्यास्ततो मताः ॥५७॥

---

५. सिद्धान्त—छान्दोग्य में पठित सत्यकामत्वादि गुणों का वाजसनेयक में और वाजसनेयक में पढ़े गये सर्ववशित्वादि गुणों का छान्दोग्य में उपसंहार करना चाहिए क्योंकि हृदय आयतन, वेद्यवस्तु ब्रह्म, ब्रह्म का सेतुत्व और लोकासम्भेदरूप प्रयोजन इत्यादि दोनों स्थलों पर समान रूप से देखे जाते हैं। एकत्र सगुण उपासना और अन्यत्र निर्गुण उपासना का भेद होने पर भी यहाँ पर विद्या में भेद नहीं है क्योंकि गुणों का उपसंहार यहाँ उपासना के लिए नहीं अपितु स्तुति के लिए कह रहे हैं।

(१९७) आदराधिकरण

१. सङ्गति—जैसे पिछले अधिकरण में सगुण और निर्गुण विद्या का भेद होने पर भी गुणोपसंहार स्तुति के लिए कहा गया था, वैसे ही भोजन के लोप होने पर भी पूर्वभोजन की स्तुति के लिए प्राणाग्निहोत्र का अलोप मानना चाहिए; इस प्रकार पूर्व के साथ इसकी दृष्टान्त सङ्गति है।

२. विषय—प्राणाग्निहोत्र के लोप एवं अलोप का विचार ही इस अधिकरण का विषय है।

३. संशय—छान्दोग्य की वैश्वानर विद्या में प्राणाग्निहोत्र सुना जाता है। क्या भोजन के लोप होने पर प्राणाग्निहोत्र का लोप होता है अथवा नहीं होता है?

४. पूर्वपक्ष—'पूर्वोऽतिथिभ्योऽश्नीयात्' इस श्रुति में अतिथिभोजन से पूर्व अग्निहोत्र का विधान होने के कारण भोजन के लोप होने पर भी प्राणाग्निहोत्र का लोप नहीं होना चाहिए।

५. सिद्धान्त—'तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयम्' इस श्रुति से भोजन के निमित्त उपस्थित भात से ही प्राणाग्निहोत्र बतलाया गया है, अतः किसी कारण से भोजन का लोप होने पर प्राणाग्निहोत्र का लोप ही रहेगा। भोजन पक्ष में आदरवचन प्राणाग्निहोत्र के प्राथम्यविधान के लिए कहा गया है। अतः भोजन के लोप होने पर प्राणाग्निहोत्र का लोप ही रहेगा।

(१९८) तन्निर्धारणाधिकरण

१. सङ्गति—पूर्वाधिकरण में अनित्य भोजनाश्रित प्राणाग्निहोत्र को जैसे अनित्य कहा था, ऐसे ही यहाँ पर नित्यकर्म की अङ्गभूत उपासनाओं में नित्यत्व बतलाने के लिए दृष्टान्त सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ हुआ है।

२. विषय—इस अधिकरण में नित्यकर्माङ्गाश्रित उपासनाओं की नित्यता पर विचार किया गया है।

३. संशय—क्या नित्यकर्माङ्ग उपासना पर्णता की भाँति नित्य है अथवा गोदोहन की भाँति अनित्य है?

४. पूर्वपक्ष—अनारभ्याधीत होने के कारण वे कर्माङ्ग उपासनायें नित्य हैं। जिस प्रकार 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति' यह वाक्य अनारभ्याधीत होने के कारण सभी क्रतु के साथ पर्णता का सम्बन्ध बतलाता है, ऐसे ही कर्माङ्ग उपासना भी नित्य ही है।

पृथक्फलश्रुतेर्नैता नित्या गोदोहनादिवत् । उभौ कुरुत इत्युक्तं कर्मोपास्त्यनुशासिनोः ॥५८॥

(१२९) प्रदानाधिकरणम् ॥२८॥

एकीकृत्य पृथग्वा स्याद्वायुप्राणानुचिन्तनम् । तत्त्वाभेदात्तयोरेकीकरणेनानुचिन्तनम् ॥५९॥
अवस्थाभेदतोऽध्यात्ममधिदैवं पृथक्श्रुतेः । प्रयोगभेदो राजादिगुणकेन्द्रप्रदानवत् ॥६०॥

(१३०) लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणम ॥२९॥

कर्मशेषाः स्वतन्त्रा वा मनश्चित्प्रमुखाग्नयः । कर्मशेषाः प्रकरणाल्लिङ्गं त्वन्यार्थदर्शनम् ॥६१॥

---

५. सिद्धान्त—नित्यकर्माङ्ग उपासना का फल पृथक् सुना गया है इसलिए गोदोहनपात्र से जलाहरण की भाँति वह नित्य नहीं है, वह तो उपासक की इच्छा पर आधारित है। उपासना करे या न करे, कर्म तो नित्य करना ही चाहिए, किन्तु उपासना उसकी इच्छा पर आधारित है। अतः नित्यकर्म के आश्रित उपासना नित्य नहीं है।

(१२९) प्रदानाधिकरण

१. सङ्गति—पहले फलभेद से कर्माङ्ग उपासनाओं का नित्यानित्यरूप प्रयोगभेद कहा था, किन्तु इस अधिकरण में वायु और प्राण का तत्त्वतः अभेद होने के कारण और उसकी प्राप्तिरूप फल का ऐक्य होने के कारण ध्यानप्रयोग में भी एकता है; ऐसी प्रत्युदाहरण सङ्गति पूर्व के साथ इसकी है।

२. विषय—वाजसनेयक में 'वाणी ने घोषणा की—'मैं बोलती ही रहूँगी' इस वाक्य द्वारा वागादि से प्राण को श्रेष्ठ कहा है। वैसे ही, अग्न्यादि से वायु को श्रेष्ठ कहा है। इसी प्रकार छान्दोग्य उपनिषद् की संवर्ग विद्या में प्राण और वायु की श्रेष्ठता कही गयी है। इस पर विचार करके निर्णय लेना इस अधिकरण का विषय है।

३. संशय—क्या इस विद्या में वायु एवं प्राण के प्रयोग का अभेद है अथवा भेद है?

४. पूर्वपक्ष—वायु और प्राण में तत्त्वतः अभेद होने के कारण दोनों का एक रूप में चिन्तन करना चाहिए।

५. सिद्धान्त—अवस्थाभेद से एवं पृथक् श्रुति को देखते हुए अध्यात्म प्राण और अधिदैव वायु का चिन्तन पृथक्-पृथक् करना चाहिए। जिस प्रकार इन्द्र देवता के एक होने पर भी 'राजा इन्द्र को एकादश कपाल वाले पुरोडाश' का निर्वाप बतलाया है, उससे भिन्न अधिराज इन्द्र और स्वराज इन्द्र के लिए पृथक् पुरोडाश का निर्वाप कहा गया है; वैसे ही तत्त्वतः एक होते हुए भी वायु एवं प्राण का, स्थानभेद से, पृथक्-पृथक् चिन्तन करना चाहिए।

(१३०) लिङ्गभूयस्त्वाधिकरण

१. सङ्गति—पिछले अधिकरण में एक प्रयोग का होना असम्भव होने के कारण वायु एवं प्राण का भिन्न रूप में चिन्तन कहा गया था, तब तो मनश्चिदादि अग्नि का कर्माङ्गरूप से अभिन्नरूप में चिन्तन करना उचित होगा; इस प्रकार प्रत्युदाहरण सङ्गति के कारण यह अधिकरण कहा गया है।

२. विषय—वाजसनेयक अग्निरहस्य में मन के अधिकार में 'छत्तीस हजार अग्नियाँ सुनी जाती हैं जो मनोमय हैं। वैसे ही वाक्चित्, प्राणचित् चक्षुश्चित्, श्रोत्रचित्, कर्मचित् और अग्निचित् भी सुनी जाती हैं। इस अधिकरण में इनके स्वरूप तथा चयन पर विचार किया गया है।

३. संशय—क्या मनश्चिदादिरूप कर्माङ्गभूत अग्नि केवल उपासना के लिए है अथवा स्वतन्त्र हैं?

उन्नेयविधिगाल्लिङ्गादेव श्रुत्या च वाक्यतः। बाध्यं प्रकरणं तस्मात्स्वतन्त्रं वह्निचिन्तनम् ॥६२॥

(१३१) ऐकात्म्याधिकरणम् ॥३०॥

आत्मा देहस्तदन्यो वा चैतन्यं मदशक्तिवत्। भूतमेलनजं देहे नान्यत्राऽऽत्मा वपुस्ततः ॥६३॥
भूतोपलब्धिर्भूतेभ्यो विभिन्ना विषयित्वतः। सैवाऽऽत्मा भौतिकाद्देहादन्योऽसौ परलोकभाक् ॥६४॥

(१३२) अङ्गावबद्धाधिकरणम् ॥३१॥

उक्थादिधी स्वशाखाङ्गेष्वेवान्यत्रापि वा भवेत्। सांनिध्यात्स्वस्वशाखाङ्गेष्वेवासौ व्यवतिष्ठते ॥६५॥

---

४. पूर्वपक्ष—प्रकरण को देखते हुए क्रियानुप्रवेशी मनश्चिदादि अग्नियाँ कर्माङ्ग ही हैं।

५. सिद्धान्त—पूर्वोक्त मनश्चिदादि अग्नियाँ स्वतन्त्र हैं. इसके बोधक अनेक लिङ्ग हैं। प्रकरण प्रमाण से लिङ्ग प्रमाण बलवान होता है, ऐसा पूर्वमीमांसा में कहा गया है। अतः मनश्चिदादि अग्नियों का स्वतन्त्ररूप से ही चिन्तन करना चाहिए, कर्माङ्गरूप में नहीं।

(१३१) ऐकात्म्याधिकरण

१. सङ्गति—मनश्चिदादि अग्नियों के चिन्तन को पुरुषार्थ मानना उचित नहीं है क्योंकि देहादि से भिन्न उसके फल का भोक्ता पुरुष है ही नहीं, इस प्रकार आक्षेप सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२. विषय—देहादि से भिन्न आत्मसत्ता का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—क्या आत्मा देहादि से भिन्न है अथवा अभिन्न है ?

४. पूर्वपक्ष—मदशक्ति की भाँति भूतों के सम्मेलन से देह में चैतन्य फूट उठता है; अतः शरीर ही आत्मा है, उससे भिन्न आत्मा नहीं है।

५. सिद्धान्त—पृथिव्यादि भूतों की उपलब्धि उनसे भिन्न चैतन्य के द्वारा ही होती है क्योंकि पृथिव्यादि विषय हैं और चैतन्य आत्मा विषयी है जो भौतिक देह से भिन्न है और इस शरीर से किए हुए शुभाशुभ कर्मों का फल लोकान्तर एवं देहान्तर में जाकर भोगता है।

(१३२) अङ्गावबद्धाधिकरण

१. सङ्गति—आत्मा के चैतन्यादि धर्म देह में सम्भव न होने के कारण देह एवं आत्मा का भेद पूर्व अधिकरण में बतलाया गया था। वैसे ही एक शाखागत उद्‌गीथधर्मों का शाखान्तरीय उद्‌गीथ से स्वरादि में भेद के कारण अन्यत्र प्राप्ति सम्भव नहीं है। इस प्रकार पूर्व के साथ इस अधिकरण की दृष्टान्त सङ्गति है।

२. विषय—इस अधिकरण में उद्‌गीथ कर्म के आश्रित उपासनाओं के शाखाभेद से भेदाभेद का विचार किया गया है।

३. संशय—अपनी शाखागत कर्मानुष्ठान के साथ ही कर्माङ्ग उद्‌गीथ उपासना करनी चाहिए अथवा सर्वशाखीय उद्‌गीथ कर्म में उसकी उपासना करनी चाहिए ?

४. पूर्वपक्ष—अपनी शाखागत उद्‌गीथादि कर्मों में ही उद्‌गीथ उपासना का विधान किया गया है क्योंकि 'उद्‌गीथ की उपासना करे' ऐसी सामान्य विधि को विशेष की आकांक्षा होने पर सन्निहित स्वशाखागत विशेषण से ही आकांक्षा शान्त हो जाती है। अतः प्रतिशाखा कर्माङ्ग उद्‌गीथादि उपासना में व्यवस्था ही माननी चाहिए।

उक्थोद्गीथादिसामान्यं तत्तच्छब्दैः प्रतीयते । श्रुत्या च संनिधेर्बाधस्ततोऽन्यत्रापि यात्यसौ ॥६६॥

(१३३) भूमज्यायस्त्वाधिकरणम् ॥३२॥

ध्येयो वैश्वानरांशोऽपि ध्यातव्यः कृत्स्न एव वा । अशेषूपास्तिफलयोरुक्तेरस्त्यंशयोरपि ॥६७॥
उपक्रमावसानाभ्यां समस्तस्यैव चिन्तनम् । अंशोपास्तिफले स्तुत्यै प्रत्येकोपास्तिनिन्दनात् ॥६८॥

(१३४) शब्दभेदाधिकरणम् ॥३३॥

न भिन्ना उत भिद्यन्ते शाण्डिल्यदहरादयः । समस्तोपासनश्रेष्ठचादब्रह्मैक्यादप्यभिन्नता ॥६९॥

---

५. सिद्धान्त—उद्गीथ शब्द मुख्यवृत्ति से सामान्यतः सर्वशाखीय उद्गीथ को बतलाता है, अतः उद्गीथ श्रुति के द्वारा सर्वशाखीय उद्गीथ कर्म में इसकी उपासना प्राप्त है। सन्निधि से श्रुति बलवान मानी गयी है, अतः एक स्थान में विहित कर्माङ्ग उद्गीथ उपासना का चिन्तन सर्वशाखीय उद्गीथ कर्म में करना चाहिए ।

(१३३) भूमज्यायस्त्वाधिकरण

१. सङ्गति—पहले उद्गीथ श्रुति के द्वारा सन्निधि को बाधकर उद्गीथादि उपासनाओं का प्रयोग सर्वशाखीय उद्गीथ कर्म में कहा गया था। वैसे ही यहाँ पर व्यस्त उपासना में भी विधिश्रुति और फलश्रुति को देखते हुए समस्त उपासना समीपवर्ती स्तुत्यर्थ को बाधकर व्यस्त उपासना में विधेयत्व मानना चाहिए। इस प्रकार पूर्व के साथ इस अधिकरण को दृष्टान्त सङ्गति है।

२. विषय—छान्दोग्य की वैश्वानर विद्या में 'हे भगवन्! मैं तो द्युलोक की उपासना करता हूँ' इत्यादि वाक्यों द्वारा द्युलोक, सूर्यादि व्यस्त उपासनाओं का वर्णन है और इसके बाद व्यस्त उपासना की निन्दाकर समस्त उपासनाओं का विधान है; इनके स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्य का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—क्या वैश्वानर विद्या में द्युलोकादि की व्यस्तरूप से उपासना करनी चाहिए अथवा समस्तरूप से उपासना करनी चाहिए ?

४. पूर्वपक्ष—व्यस्त उपासनाओं में भी विधि और फल सुने गये हैं, अतः व्यस्त उपासना भी विहित है।

५ सिद्धान्त—उपक्रम और उपसंहार के द्वारा समस्त उपासना का ही चिन्तन निश्चित होता है, व्यस्त उपासनाओं का फलप्रतिपादन समस्त उपासनाओं की स्तुति के लिए किया गया है। साथ ही, व्यस्त उपासना की निन्दा भी की गयी है। जैसे दशपूर्णमासादि याग में अङ्ग के सहित प्रधान का अनुष्ठान बतलाना अभीष्ट है, प्रयाजादि का नहीं; ऐसे ही वैश्वानर विद्या मे भी समस्त उपासना का प्रतिपादन ही अभीष्ट है, व्यस्त उपासना का नहीं।

(१३४) शब्दभेदादिकरण

१. सङ्गति—जिस प्रकार व्यस्त उपासनाओं में विधिश्रुति के होते हुए भी पहले समस्त उपासना को श्रेष्ठ कहा था, उसी प्रकार वेद्यवस्तु का अभेद रहने पर प्रत्येक में विधि के रहते हुए भी समस्त उपासना को श्रेष्ठ नहीं कह सकते। अतः विधि के भेद से उपासना में भी भेद माना गया है, इस प्रकार पूर्व अधिकरण के साथ इसकी दृष्टान्त सङ्गति है।

२. विषय—सगुणब्रह्मविषयक शाण्डिल्यादि विद्या और प्राणादि विद्या के भेदाभेद का इस अधिकरण में विचार किया गया है।

३. संशय—क्या सगुणब्रह्मविषयक शाण्डिल्यादि विद्या और प्राणादि विद्या अभिन्न हैं या भिन्न है ?

कृत्स्नोपास्तिरशक्यत्वाद्गुणैर्ब्रह्म पृथक्कृतम् । दह्रादीनि भिद्यन्ते पृथक्पृथगुपक्रमात् ॥७०॥

(१३५) विकल्पाधिकरणम् ॥३४॥

अहंग्रहेष्वनियमो विकल्पनियमोऽथवा । नियामकस्याभावेन याथाकाम्यं प्रतीयताम् ॥७१॥
ईशसाक्षात्कृतेस्त्वेकविद्ययैव प्रसिद्धितः । अन्यानर्थक्यविक्षेपौ विकल्पस्य नियामकौ ॥७२॥

(१३६) काम्यधिकरणम् ॥३५॥

प्रतीकेषु विकल्पः स्याद्याथाकाम्येन वा मतिः । अहंग्रहेष्विवैतेषु साक्षात्कृत्यै विकल्पनम् ॥७३॥
देवो भूत्वेतिवन्नात्र काचित्साक्षात्कृतो मितिः । याथाकाम्यमतोऽमीषां समुच्चयविकल्पयोः ॥७४॥

---

४. पूर्वपक्ष--समस्त उपासना श्रेष्ठ मानी गयी है और उसका विषय ब्रह्म भी एक है, इसीलिए ये सब सगुणब्रह्मविषयक विद्यायें अभिन्न मानी जायेंगी।

५. सिद्धान्त—वेद्य से अभेद रहने पर भी यहाँ पर विद्या भिन्न-भिन्न ही है क्योंकि सभी विद्याओं का अनुष्ठान शक्य नहीं है और गुणों के कारण ब्रह्म का स्वरूप भी पृथक् पृथक् हो जाता है। अतः वेद्य का अभेद रहने पर भी अनुबन्ध गुण के भेद से वेद्यवस्तु में भी भेद आ जाता है, इसीलिए यह विद्या भिन्न-भिन्न ही हैं।

(१३५) विकल्पाधिकरण

१. सङ्गति—पूर्वाधिकरण के साथ इस अधिकरण की हेतु हेतुमद्भाव सङ्गति है।

२. विषय—अहंग्रह उपासना में विकल्प एवं समुच्चय के अनुष्ठान पर इस अधिकरण में विचार किया गया है।

३. संशय--क्या अपनी इच्छा से उपासक सगुणब्रह्मविद्या का अनुष्ठान समुच्चयरूप में करेगा अथवा विकल्परूप में ?

४. पूर्वपक्ष—नियामक के अभाव में उपासक इनका यथेच्छ अनुष्ठान कर सकता है।

५. सिद्धान्त—इन विद्याओं का अनुष्ठान विकल्प से ही करना चाहिए, समुच्चयरूप में नहीं क्योंकि उपास्य का साक्षात्काररूप फल सभी का समान रूप से बतलाया गया है। अतः समुच्चय अनुष्ठान विक्षेपकारक और अनावश्यक होने के कारण साक्षात्कारपर्यन्त एक ही उपासना करनी चाहिए।

(१३६) काम्यधिकरण

१. सङ्गति—पहले अहंग्रह उपासनाओं का अनुष्ठान विकल्प से कहा गया था, वैसे ही उपासनात्व-सामान्य को देखते हुए प्रतीक उपासनाओं का भी क्यों नहीं विकल्प से ही अनुष्ठान माना जाय; इस प्रकार आक्षेप होने पर इस अधिकरण का उत्थापन हुआ है।

२. विषय—'नाम ब्रह्मेत्युपास्ते' (छा० ७-१-५) इत्यादि वाक्यों से कही गयी प्रतीक उपासनाओं के विकल्प और सम्मुच्चय का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—क्या प्रतीक उपासनायें विकल्प से की जाँय अथवा उपासक के इच्छानुरूप विकल्प या समुच्चय माना जाय ?

४. पूर्वपक्ष—साक्षात्कार फलवाली अहंग्रह उपासनाओं की भाँति इन प्रतीक उपासनाओं में भी विकल्प ही मानना चाहिए।

५. सिद्धान्त—क्रिया की भाँति अदृष्ट द्वारा फल का जनक होने के कारण इन प्रतीक उपासनाओं का फल इष्ट का साक्षात्कार करना नहीं है, ये तो काम्य उपासनायें हैं। अतः उपासक की इच्छानुसार विकल्प या समुच्चय, दोनों ही प्रकार से ये प्रतीक उपासनायें की जा सकती है।

(१३७) यथाश्रयभावाधिकरणम् ॥३६॥

समुच्चयोऽङ्गवद्धेषु याथाकाम्येन वा मतिः । समुच्चितत्वादङ्गानां तद्वद्धेषु समुच्चयः ॥७५॥
ग्रह गृहीत्वा स्तोत्रस्याऽऽरम्भ इत्यादिवन्नहि । श्रूयते सहभावोऽत्र याथाकाम्यं ततो भवेत् ॥७६॥

(आदितः श्लोक संख्या–२६४)

(इति तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः)

❁ तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ❁

(१३८) पुरुषार्थाधिकरणम् ॥१॥

क्रत्वर्थमात्मविज्ञानं स्वतन्त्रं वाऽऽत्मनो यतः । देहातिरेकमज्ञात्वा न कुर्यात्क्रतुगं ततः ॥१॥

---

(१३७) यथाश्रयभावाधिकरण

१. सङ्गति—पहले जिस प्रकार स्वतन्त्र होने के कारण प्रतीक उपासनाओं का अनुष्ठान यथेच्छ कहा था, अङ्गाश्रित उपासना वैसी स्वतन्त्र नहीं है किन्तु अङ्गतन्त्र है; इस प्रकार पूर्व के साथ इस अधिकरण की प्रत्युदाहरण सङ्गति है।

२. विषय—वेदत्रयविहित कर्माङ्ग उद्गीथाश्रित विद्याओं के समुच्चय और विकल्प पर इस अधिकरण में विचार किया गया है।

३. संशय—क्या कर्माङ्ग उद्गीथाश्रित वेदत्रयविहित उपासनाओं का अनुष्ठान समुच्चयरूप में किया जाय अथवा विकल्परूप में ?

४. पूर्वपक्ष—अङ्गावबद्ध उपासनाओं का अनुष्ठान समुच्चयरूप में ही करनी चाहिए। जैसे याग के अंगों का अनुष्ठान समुच्चयरूप में किया जाता है, वैसे ही अंगाश्रित उपासनाओं का अनुष्ठान भी समुच्चयरूप में करना चाहिए क्योंकि ये भी अपने आश्रय के अधीन हैं।

५. सिद्धान्त—अंगों की भांति अंगाश्रित उपासनाओं में सहभाव का नियम नहीं है। अतः 'ग्रहं गृहीत्वा चमसं वोन्नीय स्तोत्रमुपाकरोति' इत्यादि वाक्य में ग्रह, स्तोत्र और शंसनादि का जैसे पौर्वापर्य निश्चित रहने के कारण सहभाव सुना जाता है, प्रतीक उपासनाओं में वैसा पौर्वापर्य सहभाव नियत न रहने के कारण उसका अनुष्ठान साधक की इच्छा पर आधारित है, वह यथेच्छ विकल्प और समुच्चयरूप में उन उपासनाओं का अनुष्ठान कर सकता है।

(तृतीय अध्याय – तृतीय पाद समाप्त)

❁ तृतीय अध्याय–चतुर्थ पाद ❁

इस पाद में निर्गुण ब्रह्मविद्यागत अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग साधनों का विचार किया गया है। पहले गुणोपसंहारनिरूपण द्वारा परापर ब्रह्मविद्या का फल निश्चित किया गया था, अब इस पाद में कर्मनिरपेक्ष उस विद्या में पुरुषार्थसाधनत्व बतलाने के लिए उसके बहिरंग साधन यज्ञादि और अन्तरग साधन शम-दमादि एवं श्रवणादि का निरूपण किया जाता है। इस प्रकार पूर्व पाद के साथ इस पाद की एकविद्याविषयकत्वरूप संगति है।

(१३८) पुरुषार्थाधिकरण

१. सङ्गति—कर्मांग विद्या के प्रसंग को लेकर ब्रह्मज्ञान में कर्मांगत्व का प्रश्न उठाकर समाधान देने के लिए यह अधिकरण प्रारम्भ होता है, इसलिए पूर्व अधिकरण के साथ इसको प्रसंग संगति है।

नाद्वैतधीः कर्महेतुर्हन्ति प्रत्युत कर्म सा । आचारो लोकसंग्राही स्वतन्त्रा ब्रह्मधीस्ततः ॥२॥

(१३९) परामर्शाधिकरणम् ॥२॥

(प्रथमवर्णकम्)

नास्त्यूर्ध्वरेताः किंवाऽस्ति नास्त्यसावविधानतः । वीरघातो विधेः क्लृप्तावन्धपङ्ग्वाधिगा स्मृतिः॥३॥
अस्त्यपूर्वविधेः क्लृप्तेर्वीरहाऽनग्निको गृही । अन्धादेः पृथगुक्तत्वात्स्वस्थानां श्रूयते विधिः॥४॥

(द्वितीयवर्णकम्)

लोककाम्याश्रमी ब्रह्मनिष्ठामर्हति वा न वा । यथावकाशं ब्रह्मैव ज्ञातुमर्हत्यवारणात् ॥५॥

---

२. विषय—इस अधिकरण में औपनिषद् आत्मज्ञान का विचार किया गया है।

३. संशय—क्या आत्मज्ञान कर्ता द्वारा कर्म में प्रवेशकर पुरुषार्थ का साधक है अथवा स्वतन्त्र ही पुरुषार्थ का साधन है ?

४. पूर्वपक्ष—देहातिरिक्त आत्मा को माने तथा जाने बिना कोई भी यागादि कर्म नहीं करता, अतः आत्मज्ञान कर्म के अंगरूप में पुरुषार्थ का साधक माना गया है।

५. सिद्धान्त—इस स्वतन्त्र औपनिषद् आत्मज्ञान से मोक्ष मिलता है, यह आत्मज्ञान अपना फल मोक्ष देने में कर्मादि की अपेक्षा नहीं रखता । ज्ञान की उत्पत्ति में कर्म और उपासना सहायक हो सकते हैं, किन्तु उत्पन्न आत्मज्ञान स्वतन्त्र ही मोक्ष देने में समर्थ है । ब्रह्मज्ञानियों द्वारा यागादि कर्मों का अनुष्ठान लोकसंग्रहार्थ किया जाता है, वह ज्ञान का उपकारक नहीं है।

(१३९) परामर्शाधिकरण

(प्रथम वर्णक)

१. सङ्गति—पहले संन्यास आश्रम के सद्भाव में जो प्रमाण दिया गया था, वह विधि के अभाव में कैसे सम्भव हो सकेगा। इस प्रकार आक्षेप संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है ।

२. विषय—संन्यास आश्रम की वैधता का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—संन्यास आश्रम शास्त्रविहित हैं अथवा नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—सन्यास आश्रम का विधान नहीं है । इसके विपरीत 'वह देवताओं का हत्यारा माना जाता है जो अग्नि का उद्वास कर देता है' ऐसा निषेधवचन भी मिलता है। और यदि स्मृति में कहीं संन्यास का विधान है तो वह अन्धे, पंगु इत्यादि के लिए है क्योंकि वे कर्म करने में समर्थ नहीं हैं।

५. सिद्धान्त—गार्हस्थ की भाँति संन्यास आश्रम का भी विधान शास्त्रों में मिलता है । विधि के श्रवण न होने पर भी अपूर्व अर्थ के रूप में विधि की कल्पना की जा सकती है । और 'वीरहा' इत्यादि जो दोष कहे गये हैं वह तो उपसन्नाग्नि गृहस्थ के लिए है। अन्धे आदि अपङ्ग के लिए पृथक् से संन्यास की बात कही है। अतः स्वस्थ त्रैवर्णिक के लिए विधि सुनी जाती है, जैसा कि 'ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्, गृही भूत्वा वनी भवेत्, वनी भूत्वा परिव्रजेत्' ऐसा जाबालश्रुति में वचन मिलता है ।

(द्वितीय वर्णक)

१. सङ्गति—पूर्वोक्त रीति से आक्षेप होने पर इस अधिकरण का आरम्भ हुआ है।

२. विषय—इस अधिकरण में संन्यास आश्रम की वैधता का विचार किया गया है।

३. संशय—लोककामी आश्रमी ब्रह्मनिष्ठ हो सकता है या नहीं ?

अनन्यचित्तता ब्रह्मनिष्ठाऽसौ कर्मठे कथम् । कर्मत्यागी ततो ब्रह्मनिष्ठामर्हति नेतरः ॥६॥

(१४०) स्तुतिमात्राधिकरणम् ॥३॥

स्तोत्रं रसतमत्वादि ध्येयं वा गुणवर्णनात् । जुहूरादित्य इत्यादाविव कर्माङ्गसंस्तुतिः ॥७॥
भिन्नप्रकरणस्थत्वान्नाङ्गविध्येकवाक्यता । उपासीतेतिविध्युक्तेर्ध्येयं रसतमादिकम् ॥८॥

(१४१) पारिप्लवाधिकरणम् ॥४॥

पारिप्लवार्थमाख्यानं किंवा विद्यास्तुतिःस्तुतेः । ज्यायोऽनुष्ठानशेषत्वं तेन पारिप्लवार्थता ॥६॥

---

४. पूर्वपक्ष—किसी भी आश्रम में रहने वाला व्यक्ति आश्रमकर्म सम्पन्नकर अवकाश मिलते ही ब्रह्मचिन्तन कर सकता है, इसमें कोई आपत्ति नहीं है। और लोककामी ब्रह्म को नहीं जान सकता, ऐसा निषेधवचन कहीं भी नहीं है। अतः सभी आश्रमियों में ब्रह्मनिष्ठा हो सकती है।

५. सिद्धान्त—समस्त व्यापारों का परित्यागकर अनन्यचित्त से ब्रह्म में समाप्ति को ब्रह्मनिष्ठा कहते हैं, ऐसी ब्रह्मनिष्ठा कर्मशूर में सम्भव नहीं है। कर्मानुष्ठान और कर्मत्याग परस्पर विरोधी होने के कारण कर्मत्यागी में ही ब्रह्मनिष्ठा होती है, दूसरों में नहीं।

(१४०) स्तुतिमात्राधिकरण

१. सङ्गति—पिछले अधिकरण में अनुष्ठेय साम्यश्रुति होने के कारण संन्यास आश्रम को विधेय कहा था, वैसे ही यहाँ पर रसतमत्वादि अङ्गाश्रित होने के कारण 'इयमेव जुहूरादित्यः' इत्यादि श्रुति स्तुति मात्र के लिए है; इस प्रकार पूर्व अधिकरण के साथ इसकी दृष्टान्त सङ्गति है।

२. विषय—इस अधिकरण में उद्गीथ आदि उपासना का विचार किया गया है।

३. संशय—'रसों में सर्वश्रेष्ठ रस यह है जो अष्टम उद्गीथ है' इस वाक्य द्वारा उद्गीथ उपासनाओं में कर्माङ्ग उद्गीथ की स्तुति की गयी है अथवा गुण का विधान है?

४. पूर्वपक्ष—'इयमेव जुहूरादित्यः कूर्मः स्वर्गो लोक आहवनीय' इस वाक्य द्वारा जुह्वादि स्तुति की भाँति रसतमत्वादि वाक्य भी कर्माङ्ग उद्गीथ की स्तुति के लिए आया है।

५. सिद्धान्त—भिन्न प्रकरणस्थ होने से अङ्गविधि के साथ एकवाक्यता नहीं है। 'उपासीत' इस वाक्य से उपासना का विधान किया गया है, उस विधि की सन्निधि में रसतमत्वादि गुण चिन्तन के लिए विहित है, वह स्तुतिमात्र नहीं है।

(१४१) पारिप्लवाधिकरण

१. सङ्गति—पहले जैसे उद्गीथादि की स्तुति की अपेक्षा से उपास्य विषय को समर्पक मानने में श्रेष्ठत्व कहा गया था, वैसे ही उपनिषद् में आयी हुई आख्यायिकाओं को भी विद्या की स्तुति मानने की अपेक्षा पारिप्लवशेष मानना श्रेष्ठ होगा। इस प्रकार पूर्व अधिकरण के साथ इसकी दृष्टान्त संगति है।

२. विषय—उपनिषद् के अन्तर्गत आयी हुई आख्यायिकाओं का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—'याज्ञवल्क्य की दो पत्नियाँ थी-मैत्रेयी और कात्यायनी' इत्यादि वाक्य से वेदान्त में पढ़े गये आख्यान क्या पारिप्लवार्थ हैं अथवा सन्निहित विद्या की स्तुति के लिए है?

४. पूर्वपक्ष—आख्यानसामान्य को देखते हुए सभी आख्यानों को पारिप्लवार्थ ही मानना चाहिए जो अनुष्ठेय विद्या के शेषरूप में माने जायेंगे।

मनुर्वैवस्वतो राजेत्येवं तत्र विशेषणात् । अत्र विद्यैकवाक्यत्वभावाद्विद्यास्तुतिर्भवेत् ॥१०॥

(१४२) अग्नीन्धनाद्यधिकरणम् ॥५॥

आत्मबोधः फले कर्मापेक्षो नो वा, ह्यपेक्षते । अङ्गिनोऽङ्गेऽपेक्षायाः प्रयाजादिषु दर्शनात् ॥११॥
अविद्यातमसोर्ध्वस्तौ दृष्टं हि ज्ञानदीपयोः । नैरपेक्ष्यं ततोऽत्रापि विद्या कर्मानपेक्षिणी ॥१२॥

(१४३) सर्वापेक्षाधिकरणम् ॥६॥

उत्पत्तावनपेक्षेयमुत कर्माण्यपेक्षते । फले यथाऽनपेक्षैवमुत्पत्तावनपेक्षता ॥१३॥
यज्ञशान्त्यादिसापेक्षं विद्याजन्म श्रुतिद्वयात् । हलेऽनपेक्षितोऽप्यश्वो रथे यद्वदपेक्ष्यते ॥१४॥

---

५. सिद्धान्त—प्रथम दिन 'मनुर्वैवस्वतो राजा' द्वितीय दिन 'यमो वैवस्वतो राजा' इन विशेष आख्यानों को पारिप्लवार्थ होने के कारण कर्म का शेष मान सकते हैं; किन्तु औपनिषद आख्यानों को कर्म का शेष नहीं मान सकते । अतः सन्निहित विद्या को स्तुति के लिए ये आख्यान आये हैं, इसलिए विद्या के साथ इसकी एकवाक्यता लक्षित होती है । अत. ये विद्या के स्तावक माने जाते हैं ।

(१४२) अग्नीन्धनाद्यधिकरण

१. सङ्गति—औपनिषद आख्यानों को जैसे विद्या का अंग कहा, वैसे ही कर्मों को भी विद्या का अंग मानना चाहिए; इस प्रकार की दृष्टान्त संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है ।

२. विषय—इस अधिकरण में विद्या में अग्निहोत्रादि कर्मों की आवश्यकता का विचार किया गया है ।

३. संशय—क्या ब्रह्मविद्या अपना फल मोक्ष देने के लिए कर्म की अपेक्षा करती है या नहीं करती ?

४. पूर्वपक्ष—अंगी को जैसे प्रयाजादि अंग की अपेक्षा होती है, वैसे ही ब्रह्मज्ञानरूप अंगी को अपने अंगभूत कर्मों की भी अपेक्षा होती ही है ।

५ सिद्धान्त—तम का नाश करने में जैसे दीपक स्वतन्त्र है वैसे ही अविद्या का नाश करने में ज्ञान भी स्वतन्त्र है । अतः ब्रह्मविद्या अपना फल मोक्ष देने में कर्म की अपेक्षा नहीं रखती है, उसमें वह स्वतन्त्र है ।

(१४३) सर्वापेक्षाधिकरण

१ सङ्गति—पहले कहा था कि जैसे ब्रह्मविद्या अपना फल मोक्ष देने में कर्मों की अपेक्षा नहीं रखती है, वैसे ही अपनी उत्पत्ति में भी ब्रह्मविद्या कर्मों की अपेक्षा नहीं रखेगी; इस प्रकार की दृष्टान्त संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है ।

२. विषय—ब्रह्मविद्या के लिए यागादि कर्मों की स्थिति का विचार इस अधिकरण में किया गया है ।

३. संशय—क्या ब्रह्मविद्या अपनी उत्पत्ति में स्वाश्रम कर्म की अपेक्षा रखती है, अथवा नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—अपने फल मोक्ष को देने में ब्रह्मविद्या जैसे कर्मनिरपेक्ष है, वैसे ही अपनी उत्पत्ति में भी वह कर्मनिरपेक्ष ही है ।

५. सिद्धान्त—ब्रह्मविद्या अपनी उत्पत्ति में यागादि बाह्यकर्म और शम दमादि आभ्यन्तर कर्म की अपेक्षा रखती है, क्योंकि श्रुति और स्मृति इसमें प्रमाण है । हल खींचने में अश्व की अपेक्षा नहीं भी हो, किन्तु रथ खींचने में उसकी अपेक्षा होती ही है, वैसे ही ब्रह्मविद्या अपना फल देने में भले ही कर्मनिरपेक्ष हो, किन्तु अपनी उत्पत्ति में यागादि कर्मों की और शमादि भावों की भी अपेक्षा रखती ही है ।

(१४४) सर्वान्नानुमत्यधिकरणम् ।।७।।

सर्वाशनविधिः प्राणविदोऽनुज्ञाऽथवाऽऽपदि । अपूर्वत्वेन सर्वान्नभुक्तिर्धातुर्विधीयते ।।१५।।
श्वाद्यन्नभोजनाशक्तेः शास्त्राच्चाभोज्यवारणात । आपदि प्राणरक्षार्थमेवानुज्ञायतेऽखिलम् ।।१६।।

(१४५) आश्रमकर्माधिकरणम् ।।८।।

विद्यार्थमाश्रमार्थं च द्विः प्रयोगोऽथवा सकृत् । प्रयोजनविभेदेन प्रयोगोऽपि विभिद्यते ।।१७।।
श्राद्धार्थंभुक्त्वा तृप्तिः स्याद्विद्यार्थेनाऽऽश्रमस्तथा अनित्यनित्यसंयोग उक्तिभ्यां खादिरे मत ।।१८।।

---

(१४४) सर्वान्नानुमत्यधिकरण

१. सङ्गति—पहले जैसे 'विविदिषन्ति' इस वर्तमान क्रिया में भी पञ्चम लकार की कल्पनाकर विधि मानी गयी थी वैसे ही 'इस प्राणोपासक के लिए कुछ भी अभक्ष्य नहीं है' इस वर्तमान लकार में अपूर्वता को देखते हुए क्यों नहीं विधि को कल्पना की जाय; ऐसी आक्षेप संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है।

२. विषय—इस अधिकरण में प्राणोपासक के लिए भक्ष्याभक्ष्य का विचार किया गया है।

३. संशय—विद्या के अंगरूप में जैसे शम-दमादि विहित हैं, क्या वैसे ही प्राण उपासक के लिए सर्वान्नभक्षण का विधान है अथवा वैसा वाक्य स्तुत्यर्थ है ?

४. पूर्वपक्ष—आपत्तिकाल में अपूर्वरूप से प्राण उपासक के लिए सर्वान्नभक्षण का विधान ही है।

५. सिद्धान्त—विधायक शब्द का अभाव होने के कारण प्राणोपासक के लिए सर्वान्नभक्षण की अनुज्ञा नहीं है और न मनुष्य के लिए श्वादि अन्नभक्षण सम्भव ही है। शास्त्र ने तो अभक्ष्य भक्षण का निषेध भी किया है। आपत्ति काल में प्राणरक्षा के लिए तो सभी को जैसा-तैसा अन्न खाने की अनुज्ञा दे दी है, उससे प्राणोपासक के लिए सर्वान्नभक्षण को विधि नहीं मान सकते।

(१४५) आश्रमकर्माधिकरण

१. सङ्गति—जिस प्रकार शास्त्रान्तर के साथ विरोध आने के कारण सर्वान्नत्ववचन स्तुति के लिए है, वैसे ही 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति' इस नित्यत्वश्रुति के साथ विरोध आने के कारण यागादि को विद्या का साधन बतलाने वाला वचन भी स्तावकमात्र है; इस प्रकार पूर्व अधिकरण के साथ इसकी दृष्टान्त संगति है।

२. विषय—आश्रम कर्मों की स्थिति का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—विविदिषा वाक्य में यज्ञादि आश्रम कर्म का विधान विद्या के लिए है अथवा आश्रम-धर्मपालन के लिए है ?

४. पूर्वपक्ष—विविदिषा वाक्य द्वारा विहित यागादि कर्मों का अनुष्ठान दो बार करने से आश्रम धर्म की रक्षा और विद्या की प्राप्ति दोनों ही हो जायेगी।

५. सिद्धान्त—पितरों की प्राप्ति के लिए श्राद्ध में ब्राह्मण भोजन करता है, उससे ब्राह्मण की भी तृप्ति हो जाती है; वैसे ही विद्या के लिए अनुष्ठित कर्मों से आश्रम धर्म भी सिद्ध हो जाता है। ऐसी स्थिति में यागादि का अनुष्ठान दो बार करने की आवश्यकता नहीं है। आश्रमधर्मपालन के लिए यागादि का अनुष्ठान नित्यकर्म है और विद्या के अंगरूप से अनुष्ठान काम्य कर्म है, जो उभयविध यज्ञादि का अनुष्ठान एक बार करने से ही पूर्ण हो जाएगा। जैसे खदिर काष्ठ का यूप बनाने पर याग की सिद्धि होती है और वीर्यकाम भी सिद्ध होता है, दो वचन के बल से एक ही खदिर यूप में नित्यत्व और काम्यत्व दोनों ही हैं; वैसे ही विविदिषा वाक्य में विहित यागादि का अनुष्ठान एक बार करने से ही उक्त दोनों प्रयोजन सिद्ध हो जायेंगे।

(१४६) विधुराधिकरणम् ॥६।

नास्त्यनाश्रमिणो ज्ञानमस्ति वा नैव विद्यते । धीशुद्धयर्थाऽऽश्रमित्वस्य ज्ञानहेतोरभावतः । १६॥
अस्त्येव सर्वसंबन्धिजपादेश्चित्तशुद्धितः । श्रुता हि विद्या रैक्वादेराश्रमे त्वतिशुद्धता ॥२०॥

(१४७) तद्भूताधिकरणम् ॥१०॥

अवरोहोऽस्त्याश्रमाणां न वा, रागात्स विद्यते । पूर्वधर्मश्रद्धया वा यथाऽऽरोहस्तथैच्छिकः ॥२१॥
रागस्यातिनिषिद्धत्वाद्विहितस्यैव धर्मतः । आरोहनियमोक्त्यादेर्नावरोहोऽस्त्यशास्त्रतः ॥२२॥

(१४८) आधिकारिकाधिकरणम् ॥११॥

भ्रष्टोर्ध्वरेतसो नास्ति प्रायश्चित्तमथास्ति वा । अदर्शनोक्तेर्नास्त्येव व्रतिनो गर्दभः पशुः ॥२३॥

---

(१४६) विधुराधिकरण

१. सङ्गति—आश्रम कर्म को आप ने पहले विद्या का सहकारी कहा था, तब तो आश्रम-विधुर व्यक्ति का विद्या में अधिकार नहीं रह जाता है; ऐसी प्रत्युदाहरण संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२. विषय—इस अधिकरण में आश्रमविधुर जपादि कर्मों की स्थिति पर विचार किया गया है।

३. संशय—द्रव्य आदि साधनों से हीन होने के कारण विधुरों का ब्रह्मविद्या में अधिकार है या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—यागादि सहकारी कर्मों का अभाव होने से विधुरों का ब्रह्मविद्या में अधिकार नहीं है।

५. सिद्धान्त—अनाश्रमीरूप से वर्तमान विधुरों का भी ब्रह्म विद्या में अधिकार है। रैक्व आदि जो आश्रमविधुर थे, उनमें भी ब्रह्मविरव बतलाने वाली श्रुति देखी जाती है। ऐसे व्यक्ति के द्वारा किए गये जपादि से चित्त शुद्ध हो जाने पर उन्हें भी ब्रह्मविद्या प्राप्त हो जाती है। एतावता आश्रमित्व व्यर्थ नहीं है, क्योंकि श्रुति और स्मृति लिङ्ग से अनाश्रमी की अपेक्षा आश्रमी श्रेष्ठ माना गया है।

(१४७) तद्भूताधिकरण

१. सङ्गति—पहले अनाश्रम कर्म को विद्या का हेतु कहा था, तब तो उत्तमाश्रम से पूर्व आश्रम के प्रति लौटे हुए व्यक्ति के द्वारा किए गए कर्म भी विद्या के हेतु होने लग जायेंगे, इस प्रकार की दृष्टान्त संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२. विषय—आरूढ़पतित व्यक्ति के द्वारा किये गये कर्मों की स्थिति का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—उत्तम आश्रम से निम्न आश्रम में आने की व्यवस्था शास्त्र में है या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—पूर्व आश्रम के प्रति राग अथवा पूर्वाश्रमधर्म के प्रति श्रद्धा के कारण स्वेच्छया उत्तमाश्रम से निम्न आश्रम में आ सकता है। आरोह की भाँति अवरोह में भी कोई अवैधता नहीं होनी चाहिए।

५. सिद्धान्त—राग अत्यन्त निषिद्ध है। आरोह धर्म के कारण विहित है, किन्तु अवरोह का विधान शास्त्रों में नहीं है और न आरोह की भाँति अवरोह में शिष्टाचार प्रमाण ही है। अतः उत्तमाश्रम से निम्नाश्रम में आने का विधान शास्त्र में है ही नहीं।

(१४८) अधिकारिकाधिकरण

१. सङ्गति—इस प्रकार आरूढपतित व्यक्ति के द्वारा किया गया कर्म विद्या का हेतु नहीं है, तब तो आरूढ़पतित के द्वारा किया गया प्रायश्चित्त भी विद्या का हेतु नहीं हो सकेगा; ऐसी दृष्टान्त

उपपातकमेवैतदव्रतिनो मधुमांसवत् । प्रायश्चित्ताच्च संस्काराच्छुद्धिर्यत्नपरं वचः ॥२४॥

(१४९) बहिरधिकरणम् ॥१२॥

शुद्ध शिष्टैरुपादेयस्त्याज्यो वा दोषहानितः । उपादेयोऽन्यथा शुद्धिः प्रायश्चित्तकृता वृथा ॥२५॥
आमुष्मिकयैव शुद्धिः स्यात्ततः शिष्टास्त्यजन्ति तम् । प्रायश्चित्तादृष्टिवाक्यात्शुद्धिस्त्वैहिकीष्यते ॥२६॥

सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है।

२ विषय—आरूढ़पतित व्यक्ति के द्वारा किये गये प्रायश्चित्त का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—प्रमाद से आरूढ़पतित व्यक्ति के लिए प्रायश्चित्त का विधान है या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—आरूढ़पतित व्यक्ति के लिए प्रायश्चित्त का विधान नहीं है और जो अधिकारप्रसङ्ग में अवकीर्ण (पतित) ब्रह्मचारी के लिए नैर्ऋत गर्दभ का आलभनरूप प्रायश्चित्त कहा है, वह भी नैष्ठिक के लिए नहीं है। इसके विपरीत 'आरूढ़ ब्रह्मचारी यदि नैष्ठिक धर्म से पतित होता हो तो उसका पुनः प्रायश्चित्त मैं नहीं देखता जिससे वह आत्महत्यारा शुद्ध हो सके' इस प्रकार नैष्ठिकों के लिए प्रायश्चित्त नहीं, किन्तु उपकुर्वाण के लिए प्रायश्चित्त है।

५. सिद्धान्त—जिस प्रकार उपकुर्वाण के लिए मधु-मांसभक्षणादि उपपातक है जिसका प्रायश्चित्त करने से वह शुद्ध हो जाता है, वैसे ही उर्ध्वरेता ब्रह्मचारी के लिए गुरुपत्नी आदि से अन्यत्र प्रवृत्ति होती हो तो वह उपपातक ही माना गया है, महापातक नहीं। अतः प्रायश्चित और पुनः संस्कार से उसकी शुद्धि हो जाती है। और जो 'प्रायश्चित्तं न पश्यामि' इत्यादि कहा है वह तो कठिन प्रायश्चित्त के कारण दुष्कर है, इस अभिप्राय से कहा गया है। ब्रह्मचारी के लिए गर्दभालभन जिस प्रकार प्रायश्चित है वैसे ही वानप्रस्थ और संन्यासी के पतन होने पर भी प्रायश्चित्त का विधान है। दीक्षाभेद होने पर द्वादशरात्रपर्यन्त कृच्छ्र का आचरण वानप्रस्थ के लिए और सोमवृद्धि को छोड़कर अन्य वृक्षों का संवर्धन करना रूप प्रायश्चित्त भिक्षु के लिए कहा है।

(१४९) बहिरधिकरण

१. सङ्गति—इस प्रकार आरूढ़पतित के प्रायश्चित्त हो जाने के बाद उसके द्वारा किया गया कर्म जैसे विद्या का साधन बतलाया गया, वैसे ही उसके साथ शिष्टाचारात्मक कर्म भी विद्या का साधन हो जायेगा; इस प्रकार की दृष्टान्त संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ होता है।

२. विषय—आरूढ़पतित के शुद्ध हो जाने पर उसके साथ शिष्टाचार कैसा होना चाहिए, इसी का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३ संशय—आरूढ़पतित का प्रायश्चित्त हो जाने पर उसके साथ किया गया श्रवणादिक विद्या का साधन है या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—प्रायश्चित्त व्यर्थ न हो जाय इसके लिए उस कृतप्रायश्चित्त आरूढ़पतित के साथ किया गया श्रवणादि विद्या का साधन है, ऐसा मानना चाहिए।

५. सिद्धान्त—आरूढ़पतित के द्वारा किया गया प्रायश्चित्त उसके परलोक का साधन तो हो जाता है, किन्तु शिष्टपुरुष उसे त्याग ही देते हैं। 'प्रायश्चित्तं न पश्यामि' इस वाक्य से कथित ऐहिक अशुद्धि तो उसमें बनी ही रहती है अतः शिष्टपुरुष उसके साथ व्यवहार नहीं करते।

(१५०) स्वाम्यधिकरणम् ॥१३॥

अङ्गध्यानं याजमानमार्त्विजं वा यतः फलम् । ध्यातुरेव श्रुतं तस्माद्याजमानमुपासनम् ।२७।
ब्रूयादेवंविदुद्गातेत्यार्त्विजत्वं वा स्फुटं श्रुतम् । क्रीतत्वादृत्विजस्तेन कृतं स्वामिकृतं भवेत् ॥२८॥

(१५१) सहकार्यन्तरविध्यधिकरणम् ॥१४॥

अविधेयं विधेयं वा मौनं तन्न विधीयते। प्राप्तं पाण्डित्यतो मौनं ज्ञानवाच्युभयं यतः ।२९॥
निरन्तरज्ञाननिष्ठा मौनं पाण्डित्यतः पृथक् । विधेयं तद्भेददृष्टिप्राबल्ये तन्निवृत्तये ॥३०॥

---

(१५०) स्वाम्यधिकरण

१. सङ्गति—'कृतप्रायश्चित्तः संव्यवहार्यः' इस उत्सर्ग का अतिशयनिन्दा कथन से जैसे नैष्ठिकादि में बाध हो जाता है, वैसे ही अङ्गकर्म का कर्ता ही तदाश्रित उपासना का कर्ता होता है, इस उत्सर्ग का यजमान से भिन्न कर्ता के लिए फलश्रवण से बाध मानना चाहिए । इस प्रकार की दृष्टान्त संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है ।

२. विषय—कर्तृत्व-भोक्तृत्व में एकाधिकरण्य का विचार इस अधिकरण में किया गया है ।

३. संशय—क्या अङ्गकर्म की भाँति अङ्गाश्रित उपासना यजमान को करनी चाहिए अथवा ऋत्विक् को ?

४. पूर्वपक्ष—उपासना का फल उपासक को ही मिलता है, इस नियम के अनुसार अंगाश्रित उपासना का अनुष्ठान यजमान को ही करना चाहिए।

५. सिद्धान्त—एवंविदुद्गाता ब्रूयात्' इस वाक्यशेष में उद्गाता को स्पष्टरूप से उपासक कहा गया है जो उचित ही है । यजमान के द्वारा सम्पूर्ण कर्मानुष्ठान के लिए ऋत्विक् खरीदा हुआ होता है, अतः ऋत्विजों के द्वारा किया गया कर्म यजमान का ही माना जाता है । इसलिए ऋत्विक् के द्वारा किए हुए कर्म की भाँति उसके द्वारा अनुष्ठित उपासना का फल भी यजमान को ही मिलता है ।

(१५१) सहकार्यन्तरविध्यधिकरण

१. सङ्गति—'यां वै काञ्चन यज्ञे' इत्यादि वाक्यशेष से जैसे कर्माङ्ग उपासना ऋत्विक् के द्वारा अनुष्ठेय कही गयी, वैसे ही 'अथ मुनिः' इत्यादि वाक्यशेष से विधिविरह दशा में विधि नहीं माननी चाहिए; ऐसी दृष्टान्त संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है ।

२. विषय—मौन में अनुष्ठेयत्व का विचार इस अधिकरण में किया गया है ।

३. संशय—'बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथमुनिरमौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः' इस वाक्य में मौन का विधान है या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—'अथ मुनिः' इस वाक्य में विधि विभक्ति का अभाव होने के कारण मुनि और पण्डित शब्द ज्ञानार्थक है और पाण्डित्य से ही मौन भी प्राप्त है, अतः मौन का विधान नहीं है ।

५. सिद्धान्त—ब्रह्म साक्षात्कार के लिए बाल्य एवं पाण्डित्य की भाँति विद्या के सहकारीरूप में मौन का विधान मानना चाहिए । निरन्तर ज्ञाननिष्ठा को मौन कहते हैं, जो पाण्डित्य से पृथक् है । प्रबल भेददृष्टि की निवृत्ति के लिए मौन को विधेय मानना उचित ही होगा, चाहे वहाँ पर विधि विभक्ति का श्रवण नहीं भी हो तो भी मौन में विधि मानना ही उचित है । छान्दोग्य श्रुति में चारों आश्रमों का उल्लेख मिलता है, उनमें मौन शब्द से संन्यास आश्रम की ही सिद्धि होती है ।

(१५२) अनाविष्काराधिकरणम् ॥१५॥

बाल्यं वयः कामचारो धीशुद्धिर्वा प्रसिद्धितः । वयस्तस्याविधेयत्वे कामचारोऽस्तु नेतरा ॥३१॥
मननस्योपयुक्तत्वाद्भावशुद्धिर्विवक्षिता । अत्यन्तानुपयोगित्वाद्विरुद्धत्वाच्च न द्वयम् ॥३२॥

(१५३) ऐहिकाधिकरणम् ॥१६॥

इहैव नियतं ज्ञानं पाक्षिकं वा नियम्यते । तथाऽभिसंधेयंज्ञादिः क्षीणो विविदिषाजनौ ॥३३॥
असति प्रतिबन्धेऽत्र ज्ञानं जन्मान्तरेऽन्यथा । श्रवणायेत्यादिशास्त्राद्वामदेवोद्भवादपि ॥३४॥

---

(१५२) अनाविष्काराधिकरण

१. सङ्गति—जसे मौन शब्द की प्रसिद्धि निदिध्यासन अर्थ में है, इस प्रसिद्धि के कारण अप्राप्त मौन का भी विधान माना गया, वैसे ही भावशुद्धि अर्थ में प्रसिद्ध बाल्य शब्द को भी विधेयक मानना चाहिए; ऐसी दृष्टान्त सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है।

२. विषय—बालसुलभ यथेच्छाचरण का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३ संशय—'तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्' इत्यादि वाक्य में बाल्य शब्द से वालसुलभ यथेच्छाचरण का विधान है अथवा भावशुद्धि का ?

४. पूर्वपक्ष—नियमाभाव के कारण यथेच्छाचरण का ही विधान उक्त वाक्य में मानना चाहिए।

५. सिद्धान्त—'अव्यक्तलिङ्गोऽव्यक्ताचारः' ऐसी श्रुति और 'अन्धवज्जड़वच्चापि मूकवच्च महीं चरेत्' ऐसी स्मृति के कारण ज्ञान, अध्ययन एवं धार्मिकत्वादि के द्वारा अपने को ख्यापित न करते हुए ज्ञानी को रहना चाहिए। संन्यासी का जीवन ज्ञानाभ्यासप्रधान होता है, उसी अर्थ में भावशुद्ध्यर्थक बाल्य शब्द का प्रयोग हुआ है, यथेच्छाचार अर्थ में नहीं क्योंकि संन्यासी के लिए शौचादि धर्मविधायक शास्त्र उपलब्ध है, उसक साथ यथेच्छाचार का विरोध होने लग जायेगा। अतः भावशुद्धि ही बाल्य है, यथेच्छाचार नहीं।

(१५३) ऐहिकाधिकरण

१. सङ्गति—संन्यास से लेकर बाल्यपर्यन्त साधनों को बतला देने के बाद तत्साध्य विद्योत्पत्ति के विचार के लिए हेतुहेतुमदभाव सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ हुआ है।

२. विषय—इस अधिकरण मे श्रवणादि में विद्यासाधनत्व की सिद्धि पर विचार किया गया है।

३. संशय—क्या श्रवणादि के अनुष्ठान से इसी जन्म में ज्ञान की उत्पत्ति होती है अथवा जन्मान्तर में ?

४. पूर्वपक्ष—'इहैव मे विद्या जायताम्' इस कामना से ज्ञान के साधन श्रवणादि में प्रवृत्ति देखी जाती है, अतः विद्योत्पत्ति ऐहिक ही है।

५. सिद्धान्त—प्रतिबन्ध के न रहने पर श्रवणादि के अनुष्ठान से इस जन्म में ज्ञान उत्पन्न होता है, किन्तु प्रतिबन्ध के रहने पर जन्मान्तर में भी ज्ञान की उत्पत्ति सम्भव है, अन्यथा 'श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः' इत्यादि शास्त्र असङ्गत हो जायेंगे। वामदेवादि को मातृगर्भ में ही ज्ञान होना सुना जाता है, अतः श्रवणादि के द्वारा इस जन्म में और जन्मान्तर में भी ज्ञान का होना सम्भव है।

(१५४) मुक्तिफलाधिकरणम् ॥१७॥

मुक्तिः सातिशया नो वा फलत्वाद्ब्रह्मलोकवत् । स्वर्गवच्च नृभेदेन मुक्तिः सातिशयैव हि ॥३५॥
ब्रह्मैव मुक्तिर्न ब्रह्म क्वचित्सातिशयं श्रुतम् । अत एकविधा मुक्तिर्वेधसो मनुजस्य च ॥३६॥

(आदितः श्लोक संख्या–३३०)

॥ इति तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

❀ अथ चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः ❀

(१५५) आवृत्त्यधिकरणम् ॥१॥

श्रवणाद्याः सकृत्कार्या आवर्त्या वा सकृद्यतः । शास्त्रार्थस्तावता सिध्येत्प्रयाजादौ सकृत्कृतेः ॥१॥

(१५४) मुक्तिफलाधिकरण

१. सङ्गति—जैसे साधनों के उत्कर्ष और अपकर्ष से उसके फल विद्या में उत्कर्ष-अपकर्ष देखे जाते हैं, वैसे ही विद्या के फल मोक्ष में भी कुछ उत्कर्षादि विशेष नियम मानने चाहिए; ऐसी दृष्टान्त सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है।

२. विषय—इस अधिकरण में ज्ञानसाध्य मुक्ति पर विचार किया गया है।

३. संशय—क्या विद्या की भाँति मुक्ति में भी विशेष नियम है अथवा नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—साधनसामर्थ्यविशेष के कारण जैसे ज्ञान में वैशिष्ट्य आता है, वैसे ही विद्या के फल मोक्ष में भी विशेष नियम मानना चाहिए। अतः स्वर्गादि की भाँति मुक्ति भी सातिशय ही है।

५. सिद्धान्त—मुक्ति ब्रह्मस्वरूप ही है, ब्रह्म कहीं भी सातिशय नहीं सुना गया है। अतः चतुर्मुख ब्रह्मा अथवा मनुष्य की मुक्ति एक जैसी ही होती है, उस मुक्ति में कोई भेद नहीं है।

इसके साथ ही वैयासिकन्यायमाला तृतीय अध्याय की कैलास पीठाधीश्वर आचार्य म० मं० श्रीमत्स्वामी विद्यानन्द गिरि द्वारा रचित ललिता व्याख्या पूर्ण हो गयी।

[तृतीय अध्याय–चतुर्थ पाद समाप्त]

॥ चतुर्थ अध्याय—प्रथम पाद ॥

इस प्रकार सगुण विद्या में गुणभेद के कारण उसके फल में भेद मान भी लिया जाय, फिर भी निर्गुण विद्या के फल विदेहमोक्ष में कोई भेद नहीं है, यह अर्थ सिद्ध हुआ।

यह चतुर्थ अध्याय सगुण एवं निर्गुण विद्या के फलविशेषनिर्णय के लिए कहा गया है, इसके प्रथम पाद में जीवनमुक्ति का निरूपण है।

पिछले अध्याय में परापर विद्यारूप साधन वैराग्य के सहित तत्त्वंपदार्थशोधनपूर्वक प्रायशः बतला दिया गया, अब इस अध्याय में उसके फल को बतलाने के लिए कार्यकारणभाव सङ्गति के कारण यह अध्याय आरम्भ होता है।

(१५५) आवृत्त्यधिकरण

१. सङ्गति—पिछले अधिकरण में जैसे मोक्ष में विशेष का अभाव कहा गया, वैसे ही उसके साधन श्रवणादि में भी विशेषाभाव क्यों न माना जाय; इस प्रकार की दृष्टान्त सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२. विषय—इस अधिकरण में ब्रह्मज्ञान के साधन श्रवणादि का विचार किया गया है।

३. संशय—क्या श्रवणादि जीवन में एक ही बार करना चाहिए अथवा बार-बार करना चाहिए।

आवर्त्या दर्शनान्तास्ते तण्डुलान्तावघातवत् । दृष्टेऽत्र संभवत्यर्थे नादृष्टं कल्प्यते बुधैः ॥२॥

(१५६) आत्मत्वोपासनाधिकरणम् ॥२॥

ज्ञात्रा स्वान्यतया ब्रह्म ग्राह्यमात्मतयाऽथवा । अन्यत्वेन विजानीयाद्दुःख्यदुःखिविरोधतः ॥३॥
औपाधिको विरोधोऽत आत्मत्वेनैव गृह्यताम् । गृह्णन्त्येवं महावाक्यैः स्वशिष्यान्ग्राहयन्ति च ॥४॥

(१५७) प्रतीकाधिकरणम् ॥३॥

प्रतीकेऽहंदृष्टिरस्ति न वा, ब्रह्माविभेदतः । जीवप्रतीकयोर्ब्रह्मद्वाराऽहंदृष्टिरिष्यते ॥५॥

---

४. पूर्वपक्ष—प्रयाजादि जिस प्रकार अदृष्टार्थ हैं ऐसे ही श्रवणादि भी अदृष्टार्थ मान लेने पर एक बार हा उनका अनुष्ठान करना चाहिए, इतने मात्र से शास्त्र का प्रयोजन सिद्ध हो जाता है।

५. सिद्धान्त—तण्डुल अवघात का फल त्वक्विमोक जिस प्रकार दृष्ट होता है, ऐसे ही श्रवणादि का फल तत्त्वसाक्षात्कार भी दृष्ट ही है। अतः तत्त्वसाक्षात्कारपर्यंन्त श्रवणादि का अनुष्ठान बार-बार करते रहना चाहिए । यहाँ पर दृष्ट फल सम्भव है, इसलिए विद्वान् लोग अदृष्ट फल की कल्पना नहीं करते हैं।

(१५६) आत्मत्वोपासनाधिकरण

१. सङ्गति—ब्रह्मात्मैक्य के निश्चित होने पर उसके साक्षात्कार के लिए श्रवणादि की आवृत्ति सार्थक हो सकती है, किन्तु ब्रह्म और आत्मा की एकता ही सिद्ध नहीं है; ऐसी आक्षेप सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है।

२. विषय—इस अधिकरण में श्रवणादि आवृत्ति के प्रकार पर विचार किया गया है।

३. संशय—क्या श्रवणादि की आवृत्ति के समय अहंभाव से स्वात्मत्वेन ब्रह्म का चिन्तन करना चाहिए अथवा भिन्नत्वेन चिन्तन करना चाहिए ?

४. पूर्वपक्ष—मुमुक्षु साधक को ब्रह्म का चिन्तन भिन्नत्वेन करना चाहिए क्योंकि जीव और ब्रह्म सर्वज्ञत्व-अल्पज्ञत्व, सुखित्व-दुःखित्वादि विरुद्ध धर्म के आश्रित हैं। नाहं ईश्वरः इस प्रत्यक्ष से भी विरोध आता है।

५. सिद्धान्त—पूर्वपक्षी के द्वारा कहा गया विरोध औपाधिक है, अतः ब्रह्म का चिन्तन आत्मत्वेन ही करना चाहिए। इसीलिए महावाक्य द्वारा आचार्य अपने शिष्यों को जीव-ब्रह्म का अभेदरूप से उपदेश करते हैं। विरुद्धधर्माश्रयत्व औपाधिक है और प्रत्यक्ष मिथ्याभेद को विषय करता है। अतः जीव और ब्रह्म का अभेद पारमार्थिक होने के कारण अभेदभाव से ही ब्रह्म चिन्तनीय है।

(१५७) प्रतीकाधिकरण

१. सङ्गति—जैसे जीव-ब्रह्म का अभेद होने के कारण 'अहं ब्रह्मास्मि' इस रूप में ही ब्रह्म का ध्यान करना पिछले अधिकरण में कहा गया है, वैसे ही ब्रह्म का विकार होने के कारण मन आदि प्रतीक भी ब्रह्मरूप हैं, अतः उनका चिन्तन भी ब्रह्मरूप से ही करना चाहिए; ऐसी दृष्टान्त सङ्गति पूर्व अधिकरण के साथ इसकी है।

२. विषय—प्रतीकोपासना इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—क्या मन आदि प्रतीकों में अहंदृष्टि करनी चाहिए अथवा नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' इत्यादि श्रुति के बल से प्रतीकों में अहंदृष्टि करनी चाहिए क्योंकि जीव और प्रतीक ब्रह्म द्वारा अभिन्न हो ही जाते हैं।

प्रतीकत्वोपासकत्वहानिर्ब्रह्मैक्यवीक्षणे । अवीक्षणे तु भिन्नत्वान्नास्त्यहंदृष्टियोग्यता ॥६॥

(१५८) ब्रह्मदृष्ट्यधिकरणम् ॥४॥

किमन्यधीर्ब्रह्मणि स्यादन्यस्मिन्ब्रह्मधीरुत । अन्यदृष्ट्योपासनीयं ब्रह्मात्र फलदत्वतः ॥७॥
उत्कर्षेतिपरत्वाभ्यां ब्रह्मदृष्ट्याऽन्यचिन्तनम् । अन्योपास्त्या फलं दत्ते ब्रह्मातिथ्याद्युपास्तिवत् ॥८॥

(१५९) आदित्यादिमत्यधिकरणम् ॥५॥

आदित्यादावङ्गदृष्टिरङ्गे रव्यादिधीरुत । नोत्कर्षो ब्रह्मजत्वेन द्वयोस्तेनेच्छिको मतिः ॥९॥
आदित्यादिधियाऽङ्गानां संस्कारे कर्मणः फले । युज्यतेऽतिशयस्तस्मादङ्गेष्वर्कादिदृष्टय ॥१०॥

---

५. सिद्धान्त—ब्रह्म और आत्मा का अभेददर्शन होने पर प्रतीक में प्रतीकत्व और उपासक में उपासकत्व समाप्त हो जाता है, किन्तु ब्रह्मदर्शन से पूर्व जीव और प्रतीक में भेद रहने के कारण अहंदृष्टि की योग्यता हो उसमें नहीं है। अतः प्रतीक में अहंभाव नहीं करना चाहिए।

(१५८) ब्रह्मदृष्ट्यधिकरण

१. सङ्गति—पूर्वोक्त प्रतीक उपासनाओं में ही कुछ अन्य बातों का विचार करना भी अभीष्ट है, अतः पूर्व अधिकरण के साथ इस अधिकरण की एकविषयत्व सङ्गति है।

२. विषय—इस अधिकरण में भी पूर्वोक्त प्रतीक उपासनाओं पर ही विचार किया गया है।

३. संशय—क्या ब्रह्म में प्रतीकदृष्टि करनी चाहिए या प्रतीक में ब्रह्मदृष्टि करनी चाहिए ?

४. पूर्वपक्ष—प्रतीकदृष्टि से उपासना किये जाने पर ब्रह्म फल देता है, अतः प्रतीकदृष्टि से ब्रह्म की उपासना करनी चाहिए।

५. सिद्धान्त—निकृष्ट में उत्कृष्टदृष्टि करनी चाहिए, इस लौकिक न्याय की अपेक्षा रखते हुए ब्रह्मदृष्टि से प्रतीक की उपासना करनी चाहिए। ऐसा करने पर निकृष्ट का उत्कर्ष बढ़ता है, अन्यथा प्रत्यवाय का प्रसङ्ग आ जायेगा। अतिथि आदि की उपासना ब्रह्मदृष्टि से करने पर जैसे ब्रह्म फल देता है, वैसे ही ब्रह्मदृष्टि से प्रतीक की उपासना करने पर भी ब्रह्म ही फल देगा क्योंकि वह सर्वाध्यक्ष है।

(१५९) आदित्यादिमत्यधिकरण

१. सङ्गति—जैसे सम्पूर्ण जगत् का कारण होने से और अपहतपाप्मत्वादि गुणों के साथ सम्बन्ध होने से ब्रह्म आदित्यादि प्रतीक की अपेक्षा उत्कृष्ट है, वैसे ही सिद्ध आदित्यादि की अपेक्षा साध्यरूप उद्गीथादि फल देने में उत्कृष्ट है; अतः पूर्वोत्तर अधिकरणों में दृष्टान्त सङ्गति है।

२. विषय—छान्दोग्य उपनिषद् में कही उद्गीथादि उपासनाओं का इस अधिकरण में विचार किया गया।

३. संशय—क्या आदित्यादि में उद्गीथदृष्टि करनी चाहिए या उद्गीथादि में आदित्यादि दृष्टि करनी चाहिए ?

४. पूर्वपक्ष—आदित्य और उद्गीथ दोनों ही ब्रह्मजन्य है, अतः इनमें उत्कर्षापकर्षभाव नहीं है, इसलिए उपासक अपनी इच्छानुसार कर सकता है।

५. सिद्धान्त—आदित्यादिदृष्टि से उद्गीथ अङ्ग का संस्कार हो जाने पर उसमें अतिशय आ जाता है और उद्गीथ कर्माङ्ग भी है। तथा कर्म से फलप्राप्ति प्रसिद्ध ही है। अतः उद्गीथादि अङ्गों में आदित्यादिदृष्टि करना ही युक्तियुक्त है।

(१६०) आसीनाधिकरणम् ॥६॥

नास्त्यासनस्य नियम उपास्तावुत विद्यते । न देहस्थितिसापेक्ष मनोऽतो नियमो न हि ॥११॥
शयनोत्थानगमनैर्विक्षेपस्यानिवारणात् । धीसमाधानहेतुत्वात्परिशिष्यत आसनम् ॥१२॥

(१६१) एकाग्रताधिकरणम् ॥७॥

दिग्देशकालनियमो विद्यते वा न विद्यते । विद्यते वैदिकत्वेन कर्मस्वेतस्य दर्शनात् ॥१३॥
ऐकाग्र्यस्याविशेषेण दिगादिर्न नियम्यते । मनोनुकूल इत्युक्तेर्दृष्टार्थं देशभाषणम् ॥१४॥

(१६२) आप्रायणाधिकरणम् ॥७॥

उपास्तीनां यावदिच्छमावृत्तिः स्यादुतऽऽमृति । उपास्त्यर्थाभिनिष्पत्तेर्यावदिच्छं न तूपरि ॥१५॥

---

(१६०) आसीनाधिकरण

१. सङ्गति—अङ्गाश्रित उपासना की भाँति अङ्ग अनाश्रित उपासनाओं में भी आसन का नियम नहीं है, इसलिए पूर्व अधिकरण के साथ इसकी दृष्टान्त सङ्गति है।

२. विषय—इस अधिकरण में उपासना के समय आसननियम पर विचार किया गया है।

३. संशय—क्या जो कर्माङ्ग उपासनायें नहीं हैं अपितु स्वतन्त्र हैं, ऐसी उपासनायें बैठे-बैठे, खड़े रहकर अथवा लेटकर किसी भी प्रकार से कर सकते हैं या नियमपूर्वक बैठ करके ही कर सकते हैं ?

४. पूर्वपक्ष—मनोव्यापार होने के कारण उपासना में शरीरस्थिति का कोई नियम नहीं है, साधक अपनी इच्छानुसार ऐसी उपासनायें कर सकते हैं।

५. सिद्धान्त—सोकर या लेटकर उपासना करने से निद्रा आने की आशङ्का रहेगी, खड़े-खड़े या चलते हुए उपासना करने पर विक्षेप होता रहेगा। अतः बैठकर ही उपासना करनी चाहिए, उसी में मन की स्थिरता रह सकती है।

(१६१) एकाग्रताधिकरण

१. सङ्गति—स्वतन्त्र उपासनाओं में जिस प्रकार आसन का नियम पिछले अधिकरण में कहा गया है, वैसे ही उनमें दिगादि का भी नियम क्यों न माना जाय; इस प्रकार पूर्वाधिकरण के साथ इसकी आक्षेप सङ्गति है।

२. विषय—इस अधिकरण में अङ्ग अनाश्रित उपासनाओं में दिगादि के नियम का विचार किया गया है।

३. संशय—क्या पूर्वोक्त उपासनाओं में आसन की भाँति दिगादि का नियम है या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—प्रायशः वैदिक अनुष्ठानों में दिशा और काल का नियम देखा जाता है, अतः अङ्गानवबद्ध उपासनाओं में दिगादि का नियम होना ही चाहिए।

५. सिद्धान्त—जिस देश और काल में मन की एकाग्रता सुलभ हो, ऐसे देश एवं काल में उक्त उपासनाओं का अनुष्ठान करना चाहिए। इसीलिए तो श्वेताश्वतर उपनिषद् में 'मनोनुकूले न तु चक्षुपीडने' ऐसा कहा गया है। अतः अङ्गानवबद्ध उपासनाओं में दिशा एवं काल का नियम नहीं है।

(१६२) आप्रायणाधिकरण

१. सङ्गति—पूर्वोक्त रीति से उपासनाओं में दिगादि नियम न होने की भाँति उपासना में आवृत्ति का श्रवण भी नहीं है, अतः जीवनपर्यन्त उसका आवर्तन आवश्यक नहीं है; इस प्रकार पूर्व अधिकरण के साथ इसकी दृष्टान्त सङ्गति है।

२. विषय—इस अधिकरण में उपासना के आवर्तन पर विचार किया गया है।

अन्त्यप्रत्ययतो जन्म भाव्यतस्तत्प्रसिद्धये । आमृत्यावर्तनं ध्याय्यं सदा तद्भाववाक्यतः ॥१६॥

(१६३) तदधिगमाधिकरणम् ॥९॥

ज्ञानिनः पापलेपोऽस्ति नास्ति वाऽनुपभोगतः । अनाश इति शास्त्रेषु घोषाल्लेपोऽस्य विद्यते ॥१७॥
अकर्त्रात्मधिया वस्तुमहिम्नैव न लिप्यते । अश्लेषनाशावप्युक्तावज्ञे घोषस्तु सार्थकः ॥१८॥

(१६४) इतरासंश्लेषाधिकरणम् ॥१०॥

पुण्येन लिप्यते नो वा लिप्यतेऽस्य श्रुतत्वतः । न हि श्रौतेन पुण्येन श्रौतं ज्ञानं विरुध्यते ॥१९॥

---

३. संशय—कादाचित्क प्रत्ययाभ्यास अदृष्ट द्वारा उपास्यसाक्षात्कार का हेतु है अथवा निरन्तर प्रत्ययाभ्यास उपास्यसाक्षात्कार का कारण है ?

४. पूर्वपक्ष—अहंग्रह उपासनाओं का कुछ काल अभ्यास करके विराम दे देवें ।

५. सिद्धान्त—जीवन के अन्तिम क्षण तक अहंग्रह उपासना का अनुष्ठान करते रहना चाहिए क्योंकि श्रुति एवं स्मृति में मरण काल में भी ऐसे चिन्तनों को बनाये रखने का उपदेश किया गया है । 'स यावत्क्रतुरयमस्माल्लोकात्प्रैति' ऐसी श्रुति और 'यं यं वाऽपि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्' इस स्मृति से उपास्य प्रत्यय का अनुवर्तन देखा जाता है । अतः आमरण अहंग्रह उपासना करते रहना चाहिए ।

(१६३) तदधिगमाधिकरण

१. सङ्गति—उपासकों की भाँति ज्ञानियों के लिए कर्तव्य का निर्देश नहीं है, ऐसी प्रत्युदाहरण सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जा रहा है ।

२. विषय—ज्ञानियों के पुण्य-पाप संश्लेष का विचार इस अधिकरण में किया गया है ।

३. संशय—ब्रह्मज्ञान हो जाने पर पूर्वोत्तर पाप के संश्लेष और विनाश होते हैं या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि' (भोगे बिना कर्म नष्ट नहीं होता, सौ कल्प बीत जाने पर भी) इस स्मृति वाक्यानुसार भोगे बिना पापकर्म का क्षय नहीं होता, ऐसी प्रसिद्धि होने के कारण ज्ञानियों में भी पापकर्म का लेप होता ही है ।

५. सिद्धान्त—ब्रह्मज्ञान हो जाने पर ज्ञान के उपरान्त किये हुए पाप का असंश्लेष ही रहता है और ज्ञान से पूर्व इस जन्म में अथवा जन्मान्तर में सञ्चित पाप का विनाश हो जाता है । 'नाश नहीं होता' यह उद्घोष तो अज्ञानियों के लिए सार्थक है । अकर्ता आत्मबुद्धि से और आत्मस्वरूप की महिमा से भी ज्ञानी में पापकर्म का लेप सम्भव नहीं है ।

(१६४) इतरासंश्लेषाधिकरण

१. सङ्गति—जैसे ब्रह्मज्ञानियों के पूर्वपाप का विनाश और आगामी पाप का असंश्लेष कहा गया था, वैसे पुण्य का नहीं हो सकता क्योंकि श्रौतविज्ञान के साथ श्रुतिविहित पुण्यकर्म का विरोध नहीं है, इस प्रकार प्रत्युदाहरण सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है ।

२. विषय—ज्ञानियों के पुण्य-पाप के संश्लेष-विनाश का विचार इस अधिकरण में किया गया है ।

३. संशय—क्या ज्ञानी का आगामी पुण्य के साथ असंश्लेष तथा उनके सञ्चित पुण्य का विनाश होता है या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—श्रौत पुण्य का श्रौत ब्रह्मज्ञान के साथ में कोई विरोध नहीं है, अतः ज्ञानी के सञ्चित पुण्य एवं आगामी पुण्य बने रहते हैं ।

अलेपो वस्तुसामर्थ्यात्समानः पुण्यपापयोः । श्रुतं पुण्यं पापतया तरणं च समं श्रुतम् ॥२०॥

(१६५) अनारब्धाधिकरणम् ॥११॥

आरब्धं न-यतो नो वा संचिते इव नश्यतः । उभयत्राप्यकर्तृत्वतद्बोधो सदृशो खलु ॥२१॥
आदेहपातससारश्रुतेरनुभवादपि । इषुचक्रादिदृष्टान्तान्नैवाऽऽरब्धे विनश्यतः ॥२२॥

(१६६) अग्निहोत्राद्यधिकरणम् ॥१२॥

नश्येन्नो वाऽग्निहोत्रादि नित्यं कर्म, विनश्यति । यतोऽयं वस्तुमहिमा न क्वचित्प्रतिहन्यते ॥२३॥
अनुषक्तफलांशस्य नाशेऽप्यन्यो न नश्यति । विद्यायामुपयुक्तत्वाद्भाव्यश्लेषस्तु काम्यवत् ॥२४॥

---

५. सिद्धान्त—वस्तुसामर्थ्य के कारण पुण्य एवं पाप को स्थिति एक समान ही है, अतः ज्ञानी के पाप की भाँति सञ्चित पुण्य का भी नाश हो जाता है और अगामी पुण्य-पाप का असंश्लेष रहता है। पुनर्जन्म एवं भोग का कारण होने से पुण्य भी पाप ही कहा गया है, अतः पाप की भाँति पुण्य को भी तत्त्वज्ञानी तर जाता है, ऐसा श्रुति ने कहा है।

(१६५) अनारब्धाधिकरण

१. सङ्गति—ज्ञान के कारण से पुण्य-पाप का विनाश पिछले अधिकरणों में बतलाया गया, वह प्रारब्धकर्म से भिन्न का हो होता है; इस प्रकार उत्सर्गापवाद सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२. विषय—ज्ञानियों के आरब्ध पुण्य-पाप का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—क्या ज्ञानियों के प्रारब्ध कर्म भी तत्त्वज्ञान से नष्ट हो जाते हैं या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—सञ्चित कर्म की भाँति प्रारब्ध कर्म का भी नाश बतलाना उचित है क्योंकि पूर्व की भाँति अकर्ता आत्मा का वोध ज्ञानी को यहाँ भी है ही।

५. सिद्धान्त—'उस ज्ञानी को विदेहकैवल्य प्राप्त करने में उतनी हो देर है जितनी देर तक प्रारब्ध का क्षय नहीं हो जाता' इस देहपातपर्यन्तसंसारश्रुति एवं अनुभव से भो यह सिद्ध होता है कि ज्ञानी के प्रारब्ध पुण्य-पाप भोग से नष्ट होते हैं, ज्ञान से नहीं। इस विषय में छोड़े हुए बाण एवं कुलालचक्र का उदाहरण भी दिया जाता है कि जसे छोड़ा हुआ बाण अपना काम करके गिर जाता है और कुलाल से चलाया हुआ चक्र कुछ क्षण तक चलता रहता है, ऐसे ही ब्रह्मज्ञान के पश्चात भो प्रारब्ध कर्म सुख-दुःखादि फल देते रहते हैं।

(१६६) अग्निहोत्राद्यधिकरण

१. सङ्गति—इससे पूर्व अनारब्ध सभी कर्म तत्त्वज्ञान द्वारा उत्सर्गतः नष्ट हो जाता है, ऐसा कहा गया है, किन्तु नित्य-नैमित्तिक कर्म से अतिरिक्त अनारब्ध कर्म के विषय में हो यह बात कही गयो है; ऐसे उत्सर्गापवाद संगति के कारण इस अधिकरण को प्रारम्भ करते हैं।

२. विषय—ज्ञान से पूर्व किये गये नित्य-नैमित्तिक कर्मों का विचार इस अधिकरण का विषय है।

३. संशय—क्या अग्निहोत्रादि नित्य कर्म ज्ञान से नष्ट हो जाते हैं या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—ज्ञान से पूर्व इस जन्म में अथवा जन्मान्तर में किया गया नित्य कर्म भी काम्य कर्म की भाँति अकर्ता आत्मवस्तु के बोध से नष्ट हो जाता है।

५. सिद्धान्त—नित्य कर्म के दो अंश है, एक अंश प्रधानरूप से चित्त को शुद्ध करता है और दूसरा अंश स्वर्गादि फल देता हैं, उनमें स्वर्गादि फलप्रद अंश ही तत्त्वज्ञान से नष्ट होता है, दूसरा चित्तशुद्धिप्रद अंश ब्रह्मज्ञान का उपकारक होने से नष्ट नहीं होता। ज्ञान के पश्चात् होने वाले नित्य कर्म का असंश्लेष काम्यकर्म की भाँति ही होता है। लोक में भोग से क्षीण होने वाले व्रीहि आदि को नष्ट नहीं मानते हैं।

अन्त्यप्रत्ययतो जन्म भाव्यतस्तत्प्रसिद्धये । आमृत्यावर्तनं न्याय्यं सदा तद्भाववाक्यतः ॥१६॥

(१६३) तदधिगमाधिकरणम् ॥६॥

ज्ञानिनः पापलेपोऽस्ति नास्ति वाऽनुपभोगतः । अनाश इति शास्त्रेषु घोषाल्लेपोऽस्य विद्यते ॥१७॥
अकर्त्रात्मधिया वस्तुमहिम्नैव न लिप्यते । अश्लेषनाशावप्युक्तावज्ञे घोषस्तु सार्थकः ॥१८॥

(१६४) इतरासंश्लेषाधिकरणम् ॥१०॥

पुण्येन लिप्यते नो वा लिप्यतेऽस्य श्रुतत्वतः । न हि श्रौतेन पुण्येन श्रौतं ज्ञानं विरुध्यते ॥१६॥

---

३. संशय—कादाचित्क प्रत्ययाभ्यास अदृष्ट द्वारा उपास्यसाक्षात्कार का हेतु है अथवा निरन्तर प्रत्ययाभ्यास उपास्यसाक्षात्कार का कारण है ?

४. पूर्वपक्ष—अहंग्रह उपासनाओं का कुछ काल अभ्यास करके विराम दे देवें ।

५. सिद्धान्त—जीवन के अन्तिम क्षण तक अहंग्रह उपासना का अनुष्ठान करते रहना चाहिए क्योंकि श्रुति एवं स्मृति में मरण काल में भी ऐसे चिन्तनों को बनाये रखने का उपदेश किया गया है । 'स यावत्क्रतुरयमस्माल्लोकात्प्रैति' ऐसी श्रुति और 'यं यं वाऽपि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्' इस स्मृति से उपास्य प्रत्यय का अनुवर्तन देखा जाता है । अतः आमरण अहंग्रह उपासना करते रहना चाहिए ।

(१६३) तदधिगमाधिकरण

१. सङ्गति—उपासकों की भाँति ज्ञानियों के लिए कर्तव्य का निर्देश नहीं है, ऐसी प्रत्युदाहरण सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जा रहा है ।

२. विषय—ज्ञानियों के पुण्य-पाप संश्लेष का विचार इस अधिकरण में किया गया है ।

३. संशय—ब्रह्मज्ञान हो जाने पर पूर्वोत्तर पाप के संश्लेष और विनाश होते हैं या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि' (भोगे बिना कर्म नष्ट नहीं होता, सौ कल्प बीत जाने पर भी) इस स्मृति वाक्यानुसार भोगे बिना पापकर्म का क्षय नहीं होता, ऐसी प्रसिद्धि होने के कारण ज्ञानियों में भी पापकर्म का लेप होता ही है ।

५. सिद्धान्त—ब्रह्मज्ञान हो जाने पर ज्ञान के उपरान्त किये हुए पाप का असंश्लेष ही रहता है और ज्ञान से पूर्व इस जन्म में अथवा जन्मान्तर में सञ्चित पाप का विनाश हो जाता है । 'नाश नहीं होता' यह उदघोष तो अज्ञानियों के लिए सार्थक है । अकर्ता आत्मबुद्धि से और आत्मस्वरूप की महिमा से भी ज्ञानी में पापकर्म का लेप सम्भव नहीं है ।

(१६४) इतरासंश्लेषाधिकरण

१. सङ्गति—जैसे ब्रह्मज्ञानियों के पूर्वपाप का विनाश और आगामी पाप का असंश्लेष कहा गया था, वैसे पुण्य का नहीं हो सकता क्योंकि श्रौतविज्ञान के साथ श्रुतिविहित पुण्यकर्म का विरोध नहीं है, इस प्रकार प्रत्युदाहरण सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है ।

२. विषय—ज्ञानियों के पुण्य-पाप के संश्लेष-विनाश का विचार इस अधिकरण में किया गया है ।

३. संशय—क्या ज्ञानी का आगामी पुण्य के साथ असंश्लेष तथा उनके सञ्चित पुण्य का विनाश होता है या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—श्रौत पुण्य का श्रौत ब्रह्मज्ञान के साथ में कोई विरोध नहीं है, अतः ज्ञानी के सञ्चित पुण्य एवं आगामी पुण्य बने रहते हैं ।

अलेपो वस्तुसामर्थ्यात्समानः पुण्यपापयोः । श्रुतं पुण्यं पापतया तरणं च समं श्रुतम् ॥२०॥

(१६५) अनारब्धाधिकरणम् ॥११॥

आरब्धं न-यतो नो वा संचिते इव नश्यतः । उभयत्राप्यकर्तृत्वतद्बोधो सदृशौ खलु ॥२१॥
आदेहपातसंसारश्रुतेरनुभवादपि । इषुचक्रादिदृष्टान्तान्नैवाऽऽरब्धे विनश्यतः ॥२२॥

(१६६) अग्निहोत्राद्यधिकरणम् ॥१२॥

नश्येन्नो वाऽग्निहोत्रादि नित्यं कर्म, विनश्यति । यतोऽयं वस्तुमहिमा न क्वचित्प्रतिहन्यते ॥२३॥
अनुषक्तफलांशस्य नाशेऽप्यन्यो न नश्यति । विद्यायामुपयुक्तत्वाद्भाव्यश्लेषस्तु काम्यवत् ॥२४॥

---

५. सिद्धान्त—वस्तुसामर्थ्य के कारण पुण्य एवं पाप को स्थिति एक समान ही है, अतः ज्ञानी के पाप की भाँति सञ्चित पुण्य का भी नाश हो जाता है और अगामो पुण्य-पाप का असंश्लेष रहता है। पुनर्जन्म एवं भोग का कारण होने से पुण्य भी पाप ही कहा गया है, अतः पाप की भाँति पुण्य को भी तत्त्वज्ञानी तर जाता है, ऐसा श्रुति ने कहा है।

(१६५) अनारब्धाधिकरण

१. सङ्गति—ज्ञान के कारण से पुण्य-पाप का विनाश पिछले अधिकरणों में बतलाया गया, वह प्रारब्धकर्म से भिन्न का हो होता है; इस प्रकार उत्सर्गापवाद सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२. विषय—ज्ञानियों के आरब्ध पुण्य-पाप का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—क्या ज्ञानियों के प्रारब्ध कर्म भी तत्त्वज्ञान से नष्ट हो जाते हैं या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—सञ्चित कर्म की भाँति प्रारब्ध कर्म का भी नाश बतलाना उचित है क्योंकि पूर्व की भाँति अकर्ता आत्मा का बोध ज्ञानी को यहाँ भी है ही।

५. सिद्धान्त—'उस ज्ञानी को विदेहकैवल्य प्राप्त करने में उतनी हो देर है जितनी देर तक प्रारब्ध का क्षय नहीं हो जाता' इस देहपातपर्यन्तसंसारश्रुति एवं अनुभव से भो यह सिद्ध होता है कि ज्ञानी के प्रारब्ध पुण्य-पाप भोग से नष्ट होते हैं, ज्ञान से नहीं। इस विषय में छोड़े हुए बाण एवं कुलालचक्र का उदाहरण भी दिया जाता है कि जैसे छोड़ा हुआ बाण अपना काम करके गिर जाता है और कुलाल से चलाया हुआ चक्र कुछ क्षण तक चलता रहता है, ऐसे ही ब्रह्मज्ञान के पश्चात भो प्रारब्ध कर्म सुख-दुःखादि फल देते रहते हैं।

(१६६) अग्निहोत्राद्यधिकरण

१. सङ्गति—इससे पूर्व अनारब्ध सभी कर्म तत्त्वज्ञान द्वारा उत्सर्गतः नष्ट हो जाता है, ऐसा कहा गया है, किन्तु नित्य-नैमित्तिक कर्म से अतिरिक्त अनारब्ध कर्म के विषय में हो यह बात कहो गयो है; ऐसे उत्सर्गापवाद संगति के कारण इस अधिकरण को प्रारम्भ करते हैं।

२. विषय—ज्ञान से पूर्व किये गये नित्य-नैमित्तिक कर्मों का विचार इस अधिकरण का विषय है।

३. संशय—क्या अग्निहोत्रादि नित्य कर्म ज्ञान से नष्ट हो जाते हैं या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—ज्ञान से पूर्व इस जन्म में अथवा जन्मान्तर में किया गया नित्य कर्म भी काम्य कर्म की भाँति अकर्ता आत्मवस्तु के बोध से नष्ट हो जाता है।

५. सिद्धान्त—नित्य कर्म के दो अंश है, एक अंश प्रधानरूप से चित्त को शुद्ध करता है और दूसरा अंश स्वर्गादि फल देता हैं, उनमें स्वर्गादि फलप्रद अंश ही तत्त्वज्ञान से नष्ट होता है, दूसरा चित्तशुद्धिप्रद अंश ब्रह्मज्ञान का उपकारक होने से नष्ट नहीं होता। ज्ञान के पश्चात् होने वाले नित्य कर्म का असंश्लेष काम्यकर्म की भाँति ही होता है। लोक में भोग से क्षीण होने वाले व्रीहि आदि को नष्ट नहीं मानते हैं।

❁चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः❁

(१६९) वागधिकरणम् ॥१॥

वागादीनां स्वरूपेण वृत्त्या वा मानसे लयः । श्रुतिर्वाङ्मनसीत्याह स्वरूपविलयस्ततः ॥१॥
न लीयतेऽनुपादाने कार्यं वृत्तिस्तु लीयते । वह्निवृत्तेर्जले शान्तेर्वाक्शब्दो वृत्तिलक्षकः ॥२॥

(१७०) मनोऽधिकरणम् ॥२॥

मनः प्राणे स्वयं वृत्त्या वा लीयेत, स्वयं यतः । कारणाब्दोदकद्वारा प्राणो हेतुर्मनः प्रति ॥३॥
साक्षात्स्वहेतौ लीयेत कार्यं प्राणालिके न तु । गौणः प्राणालिको हेतुस्ततो वृत्तिलयो धियः ॥४॥

❁ चतुर्थ अध्याय–द्वितीय पाद ❁

प्रथम पाद में तत्त्वज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति हो जाने के बाद जीवनमुक्ति के विरुद्ध सञ्चित कर्मों की निवृत्ति कही गयी थी और भोग से प्रारब्ध कर्म के क्षय होने पर विदेहकैवल्य भी सामान्यतः परापरविद्या के फलरूप में बतलाया गया था। अब अपर विद्या से प्रारब्धक्षय के पश्चात् होने वाले मोक्ष में कुछ विशेष बतलाने के लिए आगे के तीन पाद प्रारम्भ किये जा रहे हैं। सामान्य-निरूपण विशेषनिरूपण का कारण होता है, अतः प्रथम पाद के साथ अग्रिम तीन पादों की सामान्य-विशेषभाव सङ्गति है। उनमें भी उत्क्रान्ति आदि में विशेष अर्थ बतलाने के लिए यह दूसरा पाद है।

(१६९) वागधिकरण

१. सङ्गति—पादान्तर होने के कारण पूर्व अधिकरण के साथ इस अधिकरण की सङ्गति बतलाना आवश्यक नहीं है।

२. विषय—'अस्य सोम्य ! पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि सम्पद्यते' इस श्रुति अंश का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—क्या वागादि का मन में स्वरूपतः लय होता है या वृत्तितः ?

४. पूर्वपक्ष—श्रुति के बल से वाणी का ही मन में लय मानना चाहिए, वाग्व्यापार का लय मानने पर लक्षणा का प्रसङ्ग आ जायेगा।

५. सिद्धान्त—वाग्वृत्ति का ही मन में लय होता है, व्यापारसहित वाणी का नहीं क्योंकि कार्य का विलय उपादान कारण में होता है, अन्यत्र नहीं। जैसे वह्नि का दाहकतारूप व्यापार जल में लीन होता है, ऐसे ही वाग्वृत्ति का ही मन में लय होता है, वाक् का नहीं। श्रुति में वाक् शब्दवृत्ति का लक्षक है।

(१७०) मनोधिकरण

१. सङ्गति—जैसे वागादि इन्द्रियों के व्यापार का लय मन में कहा, वैसा मनोव्यापार का प्राण में लय नहीं होता; किन्तु 'मनः प्राणे' इस श्रुति के बल से स्वरूपतः मन का लय प्राण में मानना चाहिए, परम्परया मन का उपादान कारण प्राण भी माना जा सकता है। इस प्रकार प्रत्युदाहरण सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२. विषय—'मनः प्राणे' यह श्रुत्यंश इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—क्या प्राण में मन का स्वरूपतः लय होता है या वृत्तितः ?

४. पूर्वपक्ष—'मनः प्राणे' इस श्रुति के बल से मन का स्वरूपतः लय प्राण में मानना चाहिए।

५ सिद्धान्त—सभी इन्द्रियों के व्यापार का लयाधारभूत मन वृत्तिरूप से ही प्राण में लीन होता है। कार्य का साक्षात् लय अपने कारण में ही होता है, मन प्राण का साक्षात् कार्य नहीं है। सुषुप्ति और मुमूर्षा दशा में प्राणव्यापार रहते-रहते मनोव्यापार का लय देखा गया है। व्यापार

(१७१) अध्यक्षाधिकरणम् ।।३।।

असोर्भूतेषु जीवे वा लयो भूतेषु तच्छ्रुतेः । स प्राणस्तेजसीत्याह न तु जीव इति क्वचित् ।।५।।
एवमेवेममात्मानं प्राणा यन्तीति च श्रुतेः । जीवे लीत्वा सहैतेन पुनर्भूतेषु लीयते ।।६।।

(१७२) आसृत्युपक्रमाधिकरणम् ।।४।।

ज्ञान्यज्ञोत्क्रान्तिरसमा समा वा, नहि सा समा । मोक्षसंसाररूपस्य फलस्य विषमत्वतः ।।७।।
आसृत्युपक्रमं जन्म वर्तमानमतः समा । पश्चात् फलवैषम्यादसमोत्क्रान्तिरेतयोः ।।८।।

(१७३) संसारव्यपदेशाधिकरणम् ।।५।।

स्वरूपेणाथ वृत्त्या वा भूतानां विलयः परे । स्वरूपेण लयो युक्तः स्वोपादाने परात्मनि ।।९।।

एवं व्यापारवान में औपचारिक अभेद मानकर 'मनः प्राणे' ऐसा कहा गया है । परम्परा से उत्पन्न कार्य का कारण में लय मानने पर हिम-करकादि में घटादि के विलय का प्रसङ्ग आ जायेगा जो अनुभवविरुद्ध माना जायेगा ।

(१७१) अध्यक्षाधिकरण

१. सङ्गति—इस प्रकार प्राण में मनोवृत्तिलय की भाँति तेज में प्राणवृत्ति का लय मानना चाहिए, ऐसी दृष्टान्त सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है ।

२. विषय—'प्राणः तेजसि' इस श्रुति में आये हुए तेज शब्द का इस अधिकरण में विचार किया गया है ।

३. संशय—क्या उत्तरवाक्य में यथाश्रुत प्राण का लय तेज में ही मानना चाहिए अथवा जीव में ? ऐसा संशय होता है ।

४. पूर्वपक्ष—श्रुतार्थ का परित्यागकर अश्रुत अर्थ की परिकल्पना न्यायविरुद्ध है, अतः तेज में ही प्राण का लय मानना युक्तियुक्त होगा ।

५. सिद्धान्त—'एवमेवेममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति' इस श्रुति के आधार पर अध्यक्ष जीव में प्राण का लय मानना चाहिए । जीव के सहित प्राण तेज आदि भूतों में लीन होता है, पहले तो प्राण जीव के साथ ही तादात्म्यभाव को प्राप्त करता है ।

(१७२) आसृत्युपक्रमाधिकरण

१. सङ्गति—पूर्वोक्त उत्क्रान्ति को लेकर कुछ अन्य बातों का विचार करने के लिए उपजीव्य उपजीवकभाव सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है ।

२. विषय—इस अधिकरण में देह से उत्क्रान्ति पर विचार किया गया है ।

३. संशय—क्या देह से उत्क्रान्ति अज्ञानियों को ही होती है अथवा दहरादि सगुण ब्रह्म के उपासकों की भी होती है ?

४. पूर्वपक्ष—मोक्ष और संसाररूप विषम फल होने के कारण उत्क्रान्ति तुल्य नहीं है ।

५. सिद्धान्त—देवयान मार्ग प्रारम्भ होने से पूर्व ज्ञानी और अज्ञानी की उत्क्रान्ति समानरूप में ही होती है, फलवैषम्य तो पश्चाद्भावी है । अतएव ज्ञानी और अज्ञानी की उत्क्रान्ति विषम कही गयी है ।

(१७३) संसारव्यपदेशाधिकरण

१. सङ्गति—सभी की उत्क्रान्ति समान मानने पर मरणमात्र से ही ब्रह्म की आत्यन्तिक प्राप्ति क्यों न मानी जाय, इस प्रकार आक्षेप होने पर यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है ।

२. विषय—'तेजः परस्यां देवतायाम्' यह श्रुति इस अधिकरण का विचारणीय विषय है ।

आत्मज्ञस्य तथात्वेऽपि वृत्त्यैवान्यस्य तल्लयः। न चेत्कस्यापि जीवस्य न स्याज्जन्मान्तरं क्वचित् ॥१०॥

(१७४) प्रतिषेधाधिकरणम् ॥६॥

किं जीवादथवा देहप्राणोत्क्रान्तिर्निवार्यते । जीवान्निवारणं युक्तं जीवेद्देहोऽन्यथा सदा ॥११॥
तप्ताश्मजलवद्देहे प्राणानां विलयः स्मृतः । उच्छ्वयत्येव देहोऽन्ते देहात्सा विनिवार्यते ॥१२॥

(१७५) वागादिलयाधिकरणम् ॥७॥

ज्ञस्य वागादयः स्वस्वहेतौ लीनाः परेऽथवा । गताः कला इति श्रुत्या स्वस्वहेतुषु तल्लयः ॥१३॥
नद्यब्धिलयसाम्योक्तेर्विद्वद्दृष्ट्या लयः परे। अन्यदृष्टिपरं शास्त्रं गता इत्याद्युदाहृतम् ॥१४॥

---

३. संशय—परमात्मा में तेज आदि भूतों का विलय स्वरूपतः होता है अथवा वृत्तितः ?

४. पूर्वपक्ष—परमात्मा सबका उपादान कारण है, अतः तेज आदि भूतों का परमात्मा में स्वरूपतः विलय मानना चाहिए।

५. सिद्धान्त—आत्मतत्त्वज्ञानी का उक्त प्रकार से स्वरूपतः भूतलय मान लेने पर भी कर्म एवं उपासक का, जन्मान्तर की सिद्धि के लिए, वृत्तिलय मानना ही उचित होगा।

(१७४) प्रतिषेधाधिकरण

१. सङ्गति—पिछले अधिकरण में मुख्य अमृतत्व की प्राप्ति के लिए उत्क्रान्ति का अभाव जो कहा गया था, वह ठीक नहीं है; इस प्रकार की आक्षेप सङ्गति से यह अधिकरण प्रारम्भ हुआ है।

२. विषय—निर्गुण ब्रह्मज्ञानियों के प्राण-उत्क्रमण का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—जीवात्मा से प्राण-उत्क्रान्ति का निषेध किया गया है अथवा देह से ?

४. पूर्वपक्ष—जीवात्मा से ही प्राण-उत्क्रान्ति का निषेध मानना उचित होगा, अन्यथा देह सदा जीवित रहने लग जायेगा।

५. सिद्धान्त—तप्त लोहपिण्ड पर छोड़े हुए जल की भाँति ज्ञानियों के प्राणों का विलय देह में ही हो जाता है। तत्त्वज्ञानी के प्राण देह से निकलते नहीं किन्तु देह के भीतर ही अपने-अपने कारणों में विलीन हो जाते हैं, अतः जीवित रहना असम्भव हो जाता है इसीलिए देहो मृतः ऐसा व्यवहार होता है।

(१७५) वागादिलयाधिकरण

१. सङ्गति—ब्रह्म में प्राणों का लय कहना असङ्गत है क्योंकि प्राणशब्दवाच्य इन्द्रियों का एवं भूतों का, ब्रह्मज्ञानियों के प्रसङ्ग में, पृथिव्यादि में लय सुना जाता है; ऐसा आक्षेप होने पर यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है।

२. विषय—ब्रह्मज्ञानियों के प्राणविलय का विचार इस अधिकरण का विषय है।

३. संशय—क्या ब्रह्मज्ञानियों के प्राण पृथिव्यादि में लीन होते हैं या परमात्मा में ?

४. पूर्वपक्ष—'गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठाः' इस श्रुति के आधार पर अपने-अपने कारणों में ही वागादि का लय मानना चाहिए।

५. सिद्धान्त—नदी का लय जैसे सागर में होता है, वैसे ही ज्ञानियों की दृष्टि से उनके प्राणों का विलय परमात्मा में होता है। व्यवहारदृष्टि से कलाओं का विलय अपने-अपने उपादान कारण में शास्त्र ने बतलाया है।

(१७६) अविभागाधिकरणम् ॥८॥

तल्लयः शक्तिशेषेण निःशेषेणाथवाऽऽत्मनि । शक्तिशेषेण युक्तोऽसावज्ञानिष्वेतदीक्षणात् ॥१५॥
नामरूपविभेदोक्तेर्निःशेषेणैव तल्लयः । अज्ञे जन्मान्तरार्थं तु शक्तिशेषत्वमिष्यते ॥१६॥

(१७७) तदोकोऽधिकरणम् ॥९॥

अविशेषो विशेषो वा स्यादुत्क्रान्तेरुपासितुः । हृत्प्रद्योतनसाम्योक्तेरविशेषोऽन्यनिर्गमात् ॥१७॥
मूर्धन्ययैव नाड्याऽसौ व्रजेन्नाडीविचिन्तनात् । विद्यासामर्थ्यतश्चापि विशेषोऽस्त्यन्यनिर्गमात् ॥१८॥

(१७८) रश्म्यधिकरणम् ॥१०॥

अहन्येव मृतो रश्मीन्याति निश्यपि वा निशि । सूर्यरश्मेरभावेन मृतोऽहन्येव याति तम् ॥१९॥

---

(१७६) अविभागाधिकरण

१. सङ्गति—पूर्वोक्त विद्वत् कलाओं के सम्बन्ध में कुछ अन्य बातों का विचार करने के लिए यह अधिकरण प्रारम्भ हुआ है, इस प्रकार पूर्वोत्तर अधिकरणों की एकविषयत्व सङ्गति है।

२. विषय—ज्ञानियों की कलाओं के विलय का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—क्या अज्ञानियों की भाँति ज्ञानियों की भी कलाओं का विलय सावशेष होता है या निरवशेष ?

४. पूर्वपक्ष—अज्ञानियों की भाँति ज्ञानियों की कलाओं का विलय भी सावशेष ही होता है।

५. सिद्धान्त—'भिद्येते तासां नामरूपे' इस श्रुति के आधार पर संसार के कारण षोडश कलाओं का विलय ज्ञानियों का निरवशेष होता है, किन्तु अज्ञानियों का जन्मान्तरप्राप्ति के लिए सावशेष विलय माना गया है।

(१७७) तदोकोऽधिकरण

१. सङ्गति—जैसे सगुण ब्रह्मोपासकों की उत्क्रान्ति देवयानमार्गारम्भपर्यन्त होती है, वैसे ही मार्गारम्भ में भी हृदय का प्रद्योतनादि समान ही सुना जाता है; इस प्रकार दृष्टान्त सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२. विषय—अज्ञानी और सगुणब्रह्म उपासक दोनों का प्राणोत्क्रमण भिन्न प्रकार से इस अधिकरण में बतलाया गया है।

३. संशय—क्या सगुण ब्रह्मोपासक और अज्ञानी का मूर्धादि स्थान से प्राण उत्क्रमण एक जैसा होता है अथवा भिन्न प्रकार से होता है ?

४. पूर्वपक्ष—हृदयप्रद्योतन आदि सभी के एक जैसे होते हैं, अतः अज्ञानी और सगुण ब्रह्मोपासक के प्राण उत्क्रमण में कोई भेद नहीं है।

५. सिद्धान्त—सगुण उपासक को नाड़ी का चिन्तन करने के लिए कहा गया है। अतः विद्या-सामर्थ्य रहने के कारण वह सगुण ब्रह्म उपासक मूर्धा नाड़ी से ही निकलता है, अन्य प्राणी दूसरे-दूसरे मार्ग से निकलते हैं।

(१७८) रश्म्यधिकरण

१. सङ्गति—पूर्व अधिकरण में कहे गये नाड़ीसम्बद्ध रश्मियों को उपजीव्य बनाकर कुछ अन्य विचार करने के लिए उपजीव्योपजीवकभाव सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है।

२. विषय—इस अधिकरण में मरण के पश्चात् उपासक की होने वाली गति का विचार किया गया है।

यावद्देहं रश्मिनाड्योर्योगो ग्रीष्मक्षपास्वपि । देहदाहाच्छ्रुतत्वाच्च रश्मीन्निश्यपि यात्यसौ ॥२०॥

(१७९) दक्षिणायनाधिकरणम् ॥११॥

अयने दक्षिणे मृत्वा धीफलं नैत्ययैति वा । नैत्युत्तरायणाद्युक्तेर्भीष्मस्यापि प्रतीक्षणात् ॥२१॥

आतिवाहिकदेवत्वंबरख्यात्ये पतीक्षणात् । फलैकान्त्याच्च विद्यायाः फलं प्राप्नोत्युपासकः ॥२२॥

(आदितः श्लोक सं० ३८०)

(इति द्वितीयः पादः)

* * *

---

३. संशय—क्या दिन में ही मरा हुआ सूर्यरश्मियों को प्राप्त करता है या रात्रि में मरा हुआ भी ?

४. पूर्वपक्ष—रात्रि के समय सूर्यरश्मि का अभाव होने के कारण दिन में मरा हुआ जीव ही सूयरश्मियों को प्राप्त करता है, रात्रि में मरा हुआ नहीं ।

५ सिद्धान्त—रश्मि और नाड़ी का सम्बन्ध जीवनपर्यन्त बना रहता है, ग्रीष्मकाल की रात्रि में भी देहताप का अनुभव होता है । श्रुति भी अहोरात्र जीवात्मा का रश्मि से सम्बन्ध बतलाती है, अतः रात्रि में मरा हुआ उपासक भी सूर्यरश्मियों को प्राप्त कर ही लेता है ।

(१७९) दक्षिणायनाधिकरण

१. सङ्गति—पूर्वोक्त न्याय का अतिदेश होने के कारण इस अधिकरण की सङ्गति पृथक् नहीं है अर्थात् उपजीव्य-उपजीवकभाव सङ्गति ही है ।

२. विषय—उपासक के मरने पर होने वाली गति का विचार इस अधिकरण में किया गया है ।

३. संशय—क्या दक्षिणायन में मरा हुआ उपासक उपासना का फल प्राप्त करता है या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—दक्षिणायन में मरे हुए उपासक को उपासना का फल-ब्रह्मलोक प्राप्त नहीं होता, इसीलिए श्रुति-स्मृति में उपासक के लिए उत्तरायण मार्ग कहा गया है । विद्या की फलप्राप्ति के लिए भीष्म पितामह ने भी उत्तरायण की प्रतीक्षा की थी ।

५. सिद्धान्त—उत्तरायण शब्द से काल अर्थ बतलाना अभीष्ट नहीं है किन्तु आतिवाहिक देवता अर्थ बतलाना अभीष्ट है । भीष्म पितामह ने पितृप्रसाद से लब्ध स्वच्छन्दमरण वरदान की प्रसिद्धि के लिए उत्तरायण की प्रतीक्षा की थी । अतः विद्या का फल एकान्तिक है जिसे उपासक प्राप्त करता ही है । अतएव दक्षिणायन में मरा हुआ भी सगुण ब्रह्म उपासक विद्या का फल प्राप्त कर ही लेता है ।

(चतुर्थ अध्याय-द्वितीय पाद समाप्त)

❀ अथ चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः ❀

(१८०) अर्चिराद्यधिकरणम् ॥१॥

नानाविधो ब्रह्मलोकमार्गो यद्वाऽर्चिरादिकः । नानाविधः स्याद्विद्यासु वर्णनादन्यथाऽन्यथा ॥१॥
एक एवार्चिरादिः स्यान्नानाश्रुत्युक्तपूर्वकः । यतः पञ्चाग्निविद्यायां विद्यान्तरवतां श्रुतः ॥२॥

(१८१) वाय्वधिकरणम् ॥२॥

संनिवेशयितुं वायुरत्राशक्योऽथ शक्यते । न शक्यो वायुलोकस्य श्रुतक्रमविवर्जनात् ॥३॥
वायुच्छिद्राद्विनिष्क्रम्य स आदित्य व्रजेदिति । श्रुतेरर्वाग्रवेर्वायुर्देवलोकस्ततोऽप्यधः ॥४॥

॥ चतुर्थाध्याय – तृतीय पाद ॥

द्वितीय पाद में उत्क्रान्ति का निरूपणकर अब तत्साध्य मार्ग और गन्तव्यस्थान को बतलाने के लिए हेतुहेतुमद्भाव सङ्गति के कारण इस तृतीय पाद को प्रारम्भ करते हैं।

(१८०) अर्चिराद्यधिकरण

१. सङ्गति—जब कभी भी मरा हुआ व्यक्ति जैसे विद्या का फल प्राप्त कर लेता है, वैसे ही जिस किसी मार्ग से गया हुआ व्यक्ति विद्या का फल प्राप्त कर लेगा; ऐसी दृष्टान्त संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२. विषय—सगुण उपासक के अर्चिरादि मार्ग का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—ब्रह्मलोकप्राप्ति का मार्ग भिन्न-भिन्न है अथवा अनेक विशेषणों से युक्त एक ही मार्ग है ?

४. पूर्वपक्ष—भिन्न प्रकरण में पढ़े जाने के कारण और भिन्न उपासना के अंग होने से ब्रह्मलोकप्राप्ति के मार्ग नाना हैं।

५. सिद्धान्त—अनेक श्रुतियों में कहा गया अर्चिरादि मार्ग एक ही है क्योंकि पञ्चाग्नि विद्या और कुछ अन्य विद्याओं में यह मार्ग सुना गया है। अतः ब्रह्मलोकप्राप्ति का अर्चिरादि मार्ग एक ही है।

(१८१) वाय्वधिकरण

१. सङ्गति—इस प्रकार जैसे सर्वत्र अर्चिरादि एकदेश की प्रत्यभिज्ञा होने के कारण ब्रह्मलोकप्राप्ति का मार्ग एक ही है, वैसे ही अग्नि के पश्चात् वायु की प्रत्यभिज्ञा होने के कारण अग्नि के बाद ही वायु का निर्देश करना चाहिए; ऐसी दृष्टान्त संगति के कारण इस अधिकरण को प्रारम्भ करते हैं।

२. विषय—इस अधिकरण में अर्चिरादि मार्ग में पढ़े गए लोकों का विचार किया गया है।

३. संशय—अर्चिरादि मार्ग में वायु का सन्निवेश होता है या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—श्रौतक्रम न होने के कारण अर्चिरादि मार्ग में वायुलोक का सन्निवेश नहीं हो सकता।

५. सिद्धान्त—संवत्सर से पर और आदित्य से पूर्व वायु का सन्निवेश सम्भव है क्योंकि 'वायुछिद्र से निकलकर वह उपासक आदित्य लोक में जाता है' ऐसी श्रुति है।

(१८२) तडिदधिकरणम् ॥३॥

वरुणादेः संनिवेशो नास्ति तत्रोत विद्यते । नास्ति वायोरिवैतस्य व्यवस्थाश्रुत्यभावतः ॥५॥
विद्युत्संबन्धिवृष्टिस्थनीरस्याधिपतित्वतः । वरुणो विद्युतोऽस्त्यूर्ध्वं तत इन्द्रप्रजापती ॥६॥

(१८३) आतिवाहिकाधिकरणम् ॥४॥

मार्गचिह्नं भोगभूर्वा नेतारो वार्ऽचिरादयः । आद्यौ स्यातां मार्गचिह्नसारूप्याल्लोकशब्दतः ॥७॥
अन्तं गमयतीत्युक्तेर्नेतारस्तेषु चेद्दृशः । निर्देशोऽस्त्यत्र लोकाख्या तन्निवासिजनान्प्रति ॥८॥

(१८४) कार्याधिकरणम् ॥५॥

परं ब्रह्माथ वा कार्यमुदङ्मार्गेण गम्यते । मुख्यत्वादमृतत्वोक्तेर्गम्यते परमेव तत् ॥९॥

---

(१८२) तडिदधिकरण

१. सङ्गति—मान लिया कि स्थानविशेष सुने जाने के कारण अर्चिरादि मार्ग का पर्व वायुलोक है, फिर भी वरुणादि का स्थानविशेष न सुने जाने के कारण इस देवयान मार्ग में उनका सम्बन्ध कैसे हो सकेगा; ऐसी प्रत्युदाहरण संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ करते हैं।

२. विषय—देवयान मार्ग में वरुणादि लोक के सन्निवेश का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—इस अर्चिरादि माग में वरुणादि का सन्निवेश हो सकता है या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—वायु के समान वरुणादि लोक की व्यवस्थापकश्रुति न होने के कारण यहाँ पर उनका सन्निवेश सम्भव नहीं है।

५. सिद्धान्त—विद्युतसम्बन्धी वृष्टि में स्थित जल का अधिपति वरुण है, अतः विद्युतलोक से पर वरुणादि का सन्निवेश उचित है। आगन्तुकों का अन्त में सन्निवेश न्यायसंगत भी है।

(१८३) आतिवाहिकाधिकरण

१. सङ्गति—इस प्रकार अर्चिरादि का क्रम बतलाने के बाद अब उनके स्वरूप का विचार किया जायेगा। सम्बन्धित विद्युत से पर वरुणादि का सन्निवेश होना चाहिए, ऐसा कहा गया; वैसे ही सादृश्यसम्बन्ध के कारण अर्चिरादि को मार्गचिह्न क्यों नहीं माना जाय, इस आक्षेप का समाधान इस अधिकरण द्वारा किया गया है।

२. विषय—अनुशासक अथवा लोकश्रुति के मुख्यत्व का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—अर्चिरादि मार्ग के चिह्न हैं, भोगभूमि हैं अथवा अतिवाहिक नेता हैं ?

४. पूर्वपक्ष—मार्गचिह्न के सदृश होने के कारण वे मार्गचिह्न हैं। अथवा लोक शब्द का प्रयोग होने के कारण वे भोगभूमि हैं, ये अतिवाहिक नेता नही हैं।

५. सिद्धान्त—'स एतान्ब्रह्म गमयति' ऐसा अन्त में सुने जाने के कारण अमानव पुरुष जिस प्रकार नेता निश्चित जान पड़ता है, उसके सहचर होने के कारण अर्चिरादि भी आतिवाहिक देवता जान पड़ते हैं। आतिवाहिक देवताओं के लिए वे भोगभूमि भले ही हों, किन्तु ब्रह्मलोकयात्री के लिए वे भोगभूमि नहीं हैं। अतः अर्चिरादि आतिवाहिक देवता ही हैं।

(१८४) कार्याधिकरण

१. सङ्गति—इस प्रकार गति का निरूपण करने के बाद गन्तव्य का निरूपण होते के कारण पूर्वापर अधिकरण की हेतुहेतुमद्भाव सङ्गति है।

२. विषय—इस अधिकरण में देवयान मार्ग से प्राप्त होने वाले गन्तव्य के स्वरूप का विचार किया गया है।

कार्यं स्याद्गतियोग्यत्वात्परस्मिंस्तदसंभवात् । सामीप्याद्ब्रह्मशब्दोक्तिरमृतत्वं क्रमाद्भवेत् ॥१०॥

(१८५) अप्रतीकालम्बनाधिकरणम् ॥६॥

प्रतीकोपासकान्ब्रह्मलोकं नयति वा न वा । अविशेषश्रुतेरेतान्ब्रह्मोपासकवन्नयेत् ॥११॥
ब्रह्मक्रतोरभावेन प्रतीकार्हफलश्रवात् । न तान्नयति पञ्चाग्निविदो नयति तच्छ्रुतेः ॥१२॥

(आदितः श्लोक सं० ३९२)

॥ इति तृतीयः पादः ॥
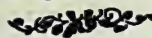
※ चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः ※

(१८६) सम्पद्याविर्भावाधिकरणम् ॥१॥

नाकवन्नूतनं मुक्तिरूपं यद्वा पुरातनम् । अभिनिष्पत्तिवचनात्फलत्वादपि नूतनम् ॥१॥

---

३. संशय--अर्चिरादि मार्ग से उपासक परब्रह्म को प्राप्त करता है अथवा अपरब्रह्म को ?

४. पूर्वपक्ष—मुख्य अमृतत्व का कथन होने के कारण उन उपासकों को परब्रह्म की ही प्राप्ति होती है।

५. सिद्धान्त—गति के योग्य होने से कार्यब्रह्म को ही उपासक प्राप्त करते हैं, परब्रह्म प्राप्ति के लिए गति की आवश्यकता नहीं है । परब्रह्म के समीप होने से हिरण्यगर्भ को भी ब्रह्म शब्द से कहा गया है, अमरत्व की प्राप्ति क्रमशः होती है।

(१८५) अप्रतीकालम्बनाधिकरण

१. सङ्गति—इस प्रकार गन्तव्यविशेष बतलाने के बाद गन्ताविशेष को बतलाने के लिए गन्तृगन्तव्यभाव सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२. विषय—ब्रह्मलोक प्राप्त करने वाले अधिकारी का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—प्रतीक उपासक ब्रह्मलोक प्राप्त करते हैं या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—नियामक न होने के कारण सभी उपासक सामान्यरूप से ब्रह्मलोक प्राप्त करते ही हैं।

५. सिद्धान्त—प्रतीक उपासक के लिए योग्य फल पृथक् पढ़ा गया है। वे ब्रह्म उपासक नहीं होते, अतः वे ब्रह्मलोक प्राप्त नहीं करते । श्रुति के बल से केवल पञ्चाग्नि विद्या के उपासक ही ब्रह्मलोक प्राप्त करते हैं, अन्य प्रतीक उपासक नहीं।

॥ इति चतुर्थ अध्याय-तृतीय पाद समाप्त ॥

❀ चतुर्थ अध्याय—चतुर्थ पाद ❀

तृतीय पाद में सगुण उपासना के फलोपयोगी गति, गन्तव्य और गन्ताविशेष का विचार किया गया। अब निर्गुण ब्रह्म उपासकों के ब्रह्मभाव का आविर्भाव और सगुण ब्रह्म उपासकों के हिरण्यगर्भतुल्य भोग की प्राप्ति बतलाने के लिए यह चतुर्थ पाद प्रारम्भ किया जाता है।

(१८६) सम्पद्याविर्भावाधिकरण

१. सङ्गति—पादान्तर होने के कारण पूर्व अधिकरण के साथ इसकी सङ्गति अपेक्षित नहीं है।

स्वेन रूपेणेति वाक्ये स्वशब्दात्तत्पुरातनम् । आविर्भावोऽभिनिष्पत्तिः फलं चाज्ञानहानितः ॥२॥

(१८७) अविभागेन दृष्टत्वाधिकरणम् ॥२॥

मुक्तरूपाद्ब्रह्म भिन्नमभिन्नं वा, विभिद्यते । संपद्य ज्योतिरित्येवं कर्मकर्तृभिदोक्तितः ॥३॥
अभिनिष्पन्नरूपस्य स उत्तमपुमानिति । ब्रह्मत्वोक्तेरभिन्नं तद्भेदोक्तिरुपचारतः ॥४॥

(१८८) ब्राह्माधिकरणम् ॥३॥

क्रमेण युगपद्वाऽस्य सविशेषाविशेषते । विरुद्धत्वात्कालभेदाद्व्यवस्था श्रुतयोस्तयोः ॥५॥

---

२. विषय—स्वर्ग एवं मोक्ष की समानता-असमानता पर इस अधिकरण में विचार किया गया है।

३. संशय—स्वर्ग के समान मोक्ष भी कोई नूतनावस्था जीव को प्राप्त होती है अथवा पुरातन अवस्था प्राप्त होती है ?

४. पूर्वपक्ष—'एष सम्प्रसादः' इस श्रुतिवचन के आधार पर स्वर्ग के समान मोक्ष में भी फलत्व तुल्य होने के कारण मोक्ष कोई नूतन अवस्था ही है।

५. सिद्धान्त—'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इस श्रुतिवाक्य के द्वारा विशेषित पूर्व अवस्था ही मुमुक्षु को प्राप्त होती है। वहाँ पर अज्ञान के नाश हो जाने पर स्वरूपाविर्भाव ही फल है, अन्य कुछ भी नहीं है।

(१८७) अविभागेन दृष्टत्वाधिकरण

१. सङ्गति—ब्रह्म उपासकों को अविशेषरूप से परज्योति की प्राप्ति पहले बतला दी गयी, अब उसी में कुछ अन्य बातों का विचार करने के लिए उपजीव्योपजीवकभाव सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२. विषय—मोक्षावस्था में जीव का ब्रह्म के साथ अत्यन्त भेदाभेद का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—क्या अपने रूप से अभिनिष्पन्न जीव मोक्षकाल में ब्रह्म के साथ भिन्न होकर रहता है अथवा अभिन्न हो जाता है ?

४. पूर्वपक्ष—'परम ज्योति को प्राप्तकर' इस श्रुतिवाक्य में कर्तृकर्मरूप भेद का कथन होने से मुक्तावस्था में भी जीव ब्रह्म से भिन्न ही रहता है।

५. सिद्धान्त—मोक्षकाल में अभिनिष्पन्न जीव को उत्तम पुरुष कहा गया है; इससे जीव और ब्रह्म का मोक्षावस्था में अभेद मानना ही उचित है, भेदकथन तो उपचारमात्र है।

(१८८) ब्राह्माधिकरण

१. सङ्गति—पहले कहे गये ब्रह्म से अभिन्न मुक्त पुरुष को उपजीव्य बनाकर कुछ अन्य बातों का विचार करने के लिए उपजीव्योपजीवकभाव सङ्गति के कारण यह अधिकरण कहा गया है।

२. विषय—पूर्वोत्तर पक्ष में अपने-अपने पक्ष की सिद्धि ही इस अधिकरण में बतलायी गयी है।

३. संशय—क्या ब्रह्मभाव से सम्पन्न जीव ब्रह्म के सर्वज्ञत्वादि धर्म से भी युक्त हो जाता है या चिन्मात्ररूप से अथवा उभयरूप से स्थित रहता है।

४. पूर्वपक्ष—आचार्य जैमिनि के मतानुसार मोक्षावस्था में जीव ब्रह्म के सर्वज्ञत्वादि धर्म से युक्त हो जाता है तथा आचार्य औडुलोमि के मतानुसार मोक्षकाल में जीव चिन्मात्ररूप से अवस्थित रहता है।

(१६७) विद्याज्ञानसाधनाधिकरणम् ॥१३॥

किमङ्गोपास्तिसंयुक्तमेव विद्योपयोग्युत । केवलं वा, प्रशस्तत्वात्सोपास्त्येवोपयुज्यते ॥२५॥
केवलं वीर्यवद्विद्यासंयुक्तं वीर्यवत्तरम् । इति श्रुतेस्तारतम्यादुभयं ज्ञानसाधनम् ॥२६॥

(१६८) इतरक्षपणाधिकरणम् ॥१४॥

बहुजन्मप्रदारब्धयुक्तानां नास्त्युतास्ति मुक् । विद्यालोपे कृतं कर्म फलदं तेन नास्ति मुक् ॥२७॥
आरब्धं भोजयेदेव न तु विद्यां विलोपयेत् । सुप्तबुद्धवदश्लेषतादवस्थ्यात्कुतो न मुक् ॥२८॥

(आदितः श्लोक संख्या–३५८)

इति चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः

---

(१६७) विद्याज्ञानसाधनाधिकरण

१. सङ्गति—नित्यादि कर्म के विषय में कुछ और भी विचार करना है, अतः एकविषयत्व सङ्गति के कारण इस अधिकरण को कहा गया है।

२. विषय—उपासनायुक्त नित्यादि कर्म का विचार इस अधिकरण का विषय है।

३. संशय—क्या अङ्ग उपासना के सहित कर्म विद्योपयोगी है अथवा केवल कर्म भी ?

४. पूर्वपक्ष—प्रशस्त होने के कारण उपासनासहित कर्म विद्या उपयोगी होता है, केवल कर्म नहीं।

५. सिद्धान्त—'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' इस श्रुति के अनुसार उपासनासहित कर्म में अतिशय बतलाने वाली श्रुति ने उपासनारहित कर्म को भी विद्योत्पत्ति में उपकारक माना है, अतः सोपासन और निरुपासन दोनों ही कर्म विद्या के साधन हैं।

(१६८) इतरक्षपणाधिकरण

१. सङ्गति—सञ्चित कर्म की भाँति आरब्ध कर्म का तत्त्वज्ञान से क्षय क्यों नहीं मानते, ऐसा आक्षेप होने पर यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है।

२. विषय—प्रारब्ध कर्म के क्षय का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—क्या तत्त्वज्ञानी भी प्रारब्धक्षय के पश्चात् जन्म ग्रहण करता है या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—तत्त्वज्ञान के पश्चात् जैसे उसका शरीर बना रहता है, वैसे ही देहपात् के बाद तत्त्वज्ञ का संसार बना ही रहेगा।

५. सिद्धान्त—प्रारब्ध केवल भोग देता है, विद्या का लोप नहीं करता। इस प्रकार प्रारब्ध पुण्य-पाप कर्मों का नाश भोग से कर लेने के बाद तत्त्वज्ञ पुरुष विदेहकैवल्य को प्राप्त करता है। मरणव्यवधानमात्र से विद्या का लोप वैसे ही नहीं होता जैसे सुषुप्तिव्यवधान के कारण विद्या का लोप नहीं होता। विद्या के उदय हो जाने पर ज्ञानी के द्वारा किए गये अनेक आगामी कर्म उसे स्पर्श नहीं करते, यह बात गुणोपसंहार पाद में कही जा चुकी है।

(चतुर्थ अध्याय – प्रथम पाद समाप्त)

मुक्तामुक्तदृशोर्भेदाद्व्यवस्थासंभवे सति । अविरुद्धं यौगपद्यमश्रुतं क्रमकल्पनम् ॥६॥

(१८९) संकल्पाधिकरणम् ॥४॥

भोग्यसृष्टावस्ति बाह्यो हेतुः संकल्प एव वा । आशामोदकवैषम्याद्धेतुर्बाह्योऽस्ति लोकवत् ॥७॥
संकल्पादेव पितर इति श्रुत्याऽवधारणात् । संकल्प एव हेतुः स्याद्वैषम्यं चानुचिन्तनात् ॥८॥

(१९०) अभावाधिकरणम् ॥५॥

व्यवस्थितावैच्छिकौ वा भावाभावौ तनोर्यतः । विरुद्धौ तेन पुंभेदादुभौ स्यातां व्यवस्थितौ ॥९॥
एकस्मिन्नपि पुंस्येतावैच्छिकौ कालभेदतः । अविरोधात्स्वप्नजाग्रद्भोगवद्युज्यते द्विधा ॥१०॥

---

५. सिद्धान्त—पारमार्थिक चैतन्यमात्रस्वरूप मानने पर भी सर्वज्ञत्वादि ब्राह्मभाव व्यावहारिक दृष्टि से जीव में हो सकता है। अतः आचार्य बादरायण के मत से मुक्तात्मा में सप्रपञ्चत्व एवं निष्प्रपञ्चत्व उभयधर्म का विरोध नहीं है क्योंकि सर्वज्ञत्वादि सभी धर्म कल्पित हैं।

(१८९) सङ्कल्पाधिकरण

सङ्गति—मुक्तात्मा में व्यावहारिक दृष्टि से सप्रपञ्चत्व और तात्त्विक दृष्टि से निष्प्रपञ्चत्व पिछले अधिकरण में कहा गया, किन्तु इस अधिकरण में संकल्प से भिन्न साधनों का भाव और अभाव आपाततः एक उपाधि में मान लेने पर भी लौकिक अनुमान से श्रुति का बाध नहीं हो सकता; ऐसी प्रत्युदाहरण सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२. विषय—मोक्षकाल में आत्मासे अतिरिक्त भोग के साधन का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—ब्रह्मलोक में स्थित उपासक के पास पित्रादि की प्राप्ति में संकल्प ही एकमात्र साधन है अथवा अन्य साधन भी हैं ?

४. पूर्वपक्ष—भोग प्रयत्नसापेक्ष ही होते हैं, आशामोदक की भाँति संकल्पमात्र से नहीं ? इस लौकिक अनुमान से यत्नान्तरसापेक्ष संकल्प से ब्रह्मलोक में विभूति की प्राप्ति माननी चाहिए।

५. सिद्धान्त—'संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति' इस अवधारणार्थक एवकारयुक्त श्रुति से ब्रह्मलोक में स्थित जीव को तत्रस्थ भोग की प्राप्ति संकल्पमात्र से ही होती है। अतः लौकिक अनुमान से संकल्पातिरिक्त साधनों की कल्पना उचित नहीं है।

(१९०) अभावाधिकरण

१. सङ्गति—पिछले अधिकरण में 'संकल्पादेव' इस श्रुति में एवकार अवधारण के कारण उपासकों की साधनान्तरनिरपेक्ष विभूति कही गयी थी; ऐसे ही यहाँ भी 'मनसा' यह विशेषण अन्य योगव्यवच्छेदक होने के कारण अवधारणार्थक है। अतः उपासक के देहादि का अभाव क्यों न माना जाय; ऐसी आक्षेप सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है।

२. विषय—'संकल्पादेव' इस अवधारणार्थक श्रुति का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—क्या प्राप्तऐश्वर्य ब्रह्मलोक गये उपासक पुरुष के शरीर, इन्द्रियादि होते हैं या नहीं होते ?

४. पूर्वपक्ष—आशामोदक से विलक्षण होने के कारण ब्रह्मलोक गये उन उपासकों को शरीरादि बाह्यसाधन भी होते हैं। जैसे लोक में भोगसुख प्राप्त करने के लिए शरीर और इन्द्रियों को अपेक्षा होती है, ऐसे ही ब्रह्मलोकवासियों को भी शरीरादि की अपेक्षा होती ही है।

(१६१) प्रदीपाधिकरणम् ॥६॥

निरात्मनोऽनेकदेहाः सात्मका वा निरात्मकाः । अभेदादात्ममनसोरेकस्मिन्नेव वर्तनात् ॥११॥
एकस्मान्मनसोऽन्यानि मनांसि स्युः प्रदीपवत् । आत्मभिस्तदवच्छिन्नैः सात्मकाः स्युस्त्रिधेत्यतः ॥१२॥

(१६२) जगद्व्यापाराधिकरणम् ॥७॥

जगत्स्रष्टृत्वमस्त्येषां योगिनामथ नास्ति वा । अस्ति स्वाराज्यमाप्नोतीत्युक्तैश्वर्यानवग्रहात् ॥१३॥

---

५. सिद्धान्त—'संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति' इस अवधारणार्थक श्रुति के बल से ब्रह्मलोक गये उपासकों के पास संकल्प के लिए केवल मन रहता है, अन्य साधनों की आवश्यकता नहीं रहती। बादरि आचार्य के मत से देहादि का अभाव कहा गया है और जैमिनि के मत से देहादि भी माना है; पर बादरायण ने दोनों ही पक्ष का समर्थन किया है, देहादि के अभाव में स्वप्न के समान और भाव में जाग्रत् के समान उनका भोग होता है।

(१६१) प्रदीपाधिकरण

१. सङ्गति—जब संकल्पमात्र से ही सृष्टि हो सकती है तो फिर शरीर की क्या आवश्यकता, अतः शरीरादि के अभाव में ब्रह्मलोक गये जीव को भोग हो नहीं सकता; इस प्रकार आक्षेप सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है।

२ विषय—ब्रह्मलोकवासी जीव के स्वरूप का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—क्या ब्रह्मलोकस्थ उपासक के द्वारा रचे गये शरीर दारुयन्त्र की भाँति निरात्मक होते हैं अथवा अस्मदादि शरीर की भाँति सात्मक होते हैं ?

४. पूर्वपक्ष—आत्मा और मन का भेद न होने के कारण एक शरीर सजीव होता है, उसी से भोग होता है और शेष सभी शरीर निर्जीव होते हैं।

५. सिद्धान्त—प्रदीप की भाँति एक ही मन उपासनासामर्थ्य से सभी शरीरों में भोग कर लेता है। जैसे एक प्रदीप अनेक प्रदीपों को प्रज्वलित कर देता है, वैसे ही एक ही मन अनेक मनों में चेतना भर देता है; इसीलिए 'स एकधा भवति, त्रिधा भवति' ऐसी श्रुति कही गयी है।

(१६२) जगद्व्यापाराधिकरण

१. सङ्गति—स्वाराज्य-कामचारादि श्रुति के बल से ब्रह्मलोकवासियों में जो निरङ्कुश ऐश्वर्य जान पड़ता था, उसका अपवाद "जगद्व्यापारवर्ज्यम्" इस श्रुति के बल से हो जाता है; अतः उत्सर्ग-अपवाद सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२. विषय—ब्रह्मलोक में स्थित सगुण उपासकों के ऐश्वर्य का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—क्या सगुण ब्रह्म के उपासक का ऐश्वर्य ब्रह्मलोक में ईश्वर के तुल्य निरङ्कुश होता है ?

४. पूर्वपक्ष—'आप्नोति स्वाराज्यम्' इस श्रुति के बल से सगुण ब्रह्मोपासक का ऐश्वर्य निरङ्कुश जान पड़ता है।

सृष्टावप्रकृतत्वेन स्रष्टृता नास्ति योगिनाम् । स्वराज्यमीशो भोगाय ददौ मुक्तिं च विद्यया ।।१४।।

(आदितः श्लोक संख्या–४०७)

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीभारतीतीर्थमुनिप्रणीतायां वैयासिकन्यायमालायां चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।।४।।

---

५. सिद्धान्त—सृष्टिप्रतिपादक प्रकरण में परमात्मा को ही स्रष्टा कहा गया है, सगुण ब्रह्म उपासक योगियों को नहीं। ईश्वर उन उपासकों को भोग में स्वतन्त्रता देता है, सर्गादि रचना में नहीं। मुक्ति तो विद्या से ही प्राप्त होती है। अतः जगत्सृष्टि में उनकी स्वतन्त्रता न होने पर भी भोग एवं मोक्ष में उनकी स्वतन्त्रता है ही, यह सिद्ध हुआ।

इस प्रकार वैयासिकन्यायमाला चतुर्थ अध्याय की कैलासपीठाधीश्वर आचार्य म० मं० श्रीमत्स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज द्वारा रचित ललिता व्याख्या पूर्ण हो गयी।

सूत्राणां वर्णानुक्रमणिका

इति बादरायणप्रणीतब्रह्मसूत्राणां वर्णानुक्रमणिका सम्पूर्णम् । इत्यों शम्

श्री कैलासपीठाधीश्वर अनन्त श्रविभूषित श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य महामण्डलेश्वर

श्रीमत्स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज

एवं श्री कैलास आश्रम के पूर्वाचार्यों की अनुपम कृतियां।

श्री कैलास विद्या प्रकाशन के सोपान

१. ईशावास्योपनिषद् (सटिप्पणटीकाद्वय संवलित शाङ्करभाष्योपेता) क्राउन साइज ८ पेजी पृष्ठ ६८ ... ३०-००

२. ईशावास्य प्रवचनसुधा, डिमाई साइज पृष्ठ ३२० ... ५०-००

३. ईशावास्य प्रवचनसुधा (आंग्ल अनुवाद) डिमाई १६ पेजी सजिल्द २००-००

४ केनोपनिषद् (सटिप्पणटीकाद्वय संवलित शाङ्करभाष्ययुता) क्राउन साइज पृष्ठ १३८ ५०.००

आई एस. बी. एन. ८१ ९००६२५-७-३

५ कठोपनिषद् (सटिप्पणटीकाद्वय संवलित शाङ्करभाष्योपेता) क्राउन साइज पृष्ठ १४० ५०.००

६. प्रश्नोपनिषद् (सटिप्पणटीकाद्वय-समलंकृत शाङ्करभाष्योपेता) क्राउन साइज पृष्ठ १२० ... ४० ००

७. मुण्डकोपनिषद् (सटिप्पणटीकाद्वय समलंकृत शाङ्करभाष्योपेता) क्राउन साइज ८ पेजी पृष्ठ ९० ... ४०.००

८. माण्डूक्य कारिका (सटिप्पण, हिन्दी, संस्कृत टीका सहित शाङ्करभाष्य) सजिल्द क्राउन साइज ८ पेजी पृष्ठ ३२० २५०.००

आई. एस. बी. एन. ८१-९००६२५-८-१

९. माडूक्य कारिका (सानुवाद शाङ्करभाष्ययुता) ... ५०.००

१०. तैत्तिरीयोपनिषद् (सटिप्पण-टीकाद्वय संवलित शाङ्करभाष्य युता) क्राउन साइज पृष्ठ १७८ ... ५०.००

आई.एस बी.एन. ८१-९००६२५ ९-X

११. एतरेयोपनिषद् (सटिप्पणटीका-द्वद संवलित शांकरभाष्ययुता क्राउन साइज पृष्ठ ११२ ... ४०.००

१२. छान्दोग्योपनिषद् (सटिप्पणटीकाद्वय संवलित शांकरभाष्ययुता क्राउन साइज पृष्ठ ७३४ ... २००-००

१३. बृहदारण्यकोपनिषद् (सटिप्पण-टीकाद्वय समलङ्कृत शांकरभाष्य-युता) सजिल्द क्राउन ८ पेजी २ खण्ड, पृष्ठ १६६२ ... ५००.००

१४. ईशादि सप्तोपनिषद् (सटिप्पणटीकाद्वय शांकरभाष्योपेता) क्राउन साइज २००-००

१५. ईशादि द्वादशोपनिषद् (विद्यानन्दी मिताक्षरा हिन्दी व्याख्या) सजिल्द डबल डिमाई १६ पेजी पृष्ठ ५३२ २००-०० (ओडियो-विडियो कैसेट उपलब्ध है)

१६. ब्रह्मसूत्र (सानुवाद-विद्यानन्दवृत्ति) सजिल्द डबल डिमाई १६ पृष्ठ ५२० २००-०० (ओडियो-विडियो कैसेट उपलब्ध है)

१७. ब्रह्मसूत्र (संस्कृत विद्यानन्दवृत्ति-परीक्षोपयोगी) डबल डिमाई साइज १६ पेजी पृष्ठ २४७ ... २५-००

१८. ब्रह्मसूत्र (शांकरभाष्य सटिप्पण-रत्नप्रभा ललिता व्याख्यायुतम्)
(भाग-१) ... ३००-००
(भाग-२) ... ५००-००

आई.एस.बी.एन. ८१-९००६२५-३-०

१६. ब्रह्मसूत्र (चतुःसूत्री, शांकरभाष्य सटिप्पण ललिता व्याख्यायुतम्) १००.००
आई.एस.बी.एन. ८१-६००६२५-०-६

२०. ब्रह्मसूत्र मूलपाठ ... १०-००

२१. वैयासिक न्यायमाला (संस्कृत, हिन्दी, टीकाद्वय सम्वलिता व्याख्यायुता १५०-००
आई. एस. बी. एन. ८१-६००६२५-४-६

२२. वैयासिक न्यायमाला (सानुवाद ललिता व्याख्यायुता १००-००
आई. एस. बी. एन. ८१-६०००६२५-४-७

२३. श्रीमद्भगवद्गीता (शांकरभाष्य सटिप्पण आनन्दगिरि टीका ललिता व्याख्यायुतम् दो भाग) ... ४००-००
आई० एस० बी० एन० ८१-६००६२५-१-४

२४. श्रीमद्भगवद्गीता (शांकरभाष्य ललिता व्याख्यायुतम् ... २५०-००
आई० एस० बी१ एन० ८१-६०००६२५-२-२

२५. श्रीमद्भगवद्गीता (अष्टादशाह प्रवचन) ... २५०-००
(ओडियो-विडियो कैसेट उपलब्ध है)

२६. वेदान्त परिभाषा (अर्थदीपिका एवं सानुवाद सुबोधिनी व्याख्या) सजिल्द क्राउन साइज ८ पेजी ... ८०-००

२७. वेदान्त परिभाषा (परीक्षाब्धि-संतरणी) ... २०-००

२८. प्रत्यक्तत्त्व प्रदीपिका (चित्सुखी-छात्रतोषिणी टीका परिक्षाब्धिसंतरणी अष्टोत्तरशतन्यायमालायुता) १२०-००

२६. प्रत्यक्तत्त्व प्रदीपिका (चित्सुखी सटिप्पणटीकाद्वय संवलिता भाग १-२ ... १८०-००

३०. प्रत्यक्तत्त्व प्रदीपिका (चित्सुखी परिक्षाब्धि संतरणी) ४०- ००

३१. चतुःसूत्री (भामती परीक्षाब्धि संतरणी) ... २०-००

३२. व्याप्तिपञ्चकम् (सानुवाद माथुरी छात्रतोषिणी संवलितम्) ... ४०-००

३३. सिद्धान्तलक्षणम् (जागदीशी छात्रतोषिणी हिन्दी व्याख्यात्रय संवलितम। ... यन्त्रस्थ

३४. संक्षेप शारीरकं (सानुवाद-मधुसूदनी सटिप्पणं संवलितं [भाग-१-२] ... ५००-००

३५. संक्षेप शारीरकं (सानुवाद ललिता व्याख्यायुता) ... २००-००

३६. सागरसेतु सजिल्द क्राउन साइज पृष्ठ ३२० ... ५०-००

३७. कैलास आश्रम शताब्दी स्मारिका सजिल्द क्राउन साइज पृष्ठ ४३४ .... ५०-००

३८. यतीन्द्रतिलक सजिल्द क्राउन साइज पृष्ठ ३२४ .... ५०-००

३६. दिव्यस्मृति पृष्ठ ३८८ ... २०-००

४०. आचार सहिता ... ५०-००
आई. एस. बी. एन. ८१-६००६२५-६-५

४१. व्यासपूजापद्धति(शङ्खकलशप्रधान-वेदोमण्डलैःसमलङ्कृता) २०-००

४२. चित्राञ्जलिः १२५-००

४३. श्रद्धासुमनाञ्जलिः १२५-००

४४. अमृताञ्जलिः ५०-००

४५. श्रुतिसारसमुद्धरणम् (हिन्दी-टीकायुतम्) क्राउन १६ पेजी पृष्ठ १५२ २०/-

४६. तत्वबोध, आत्मबोध सानुवाद पृष्ठ १०० २०/-

४७. वेदान्त रत्नाकर क्राउन १६ पेजी पृष्ठ ११६ २०/-

४८. वेदान्त डिण्डिम बोध (सानुवाद) पृष्ठ ५८ — २०/-
४९. वैराग्यपञ्चक (कुञ्जिकाव्याख्या) — यन्त्रस्थ
५०. अद्वैतमुक्तावली (मूल पञ्जाबी का संस्कृत श्लोकों एवं हिन्दी में अनुवाद) — २०/-
५१. अमर संस्मरण (श्री अमरनाथ यात्रा विवरण) — २०/-
५२. कैलास मान सरोवर यात्रा — ५०/-
५३. चैतन्य वचनामृतं ५०/-
५४. सानुवादगङ्गालहरी १०/-
५५. हरिहरतारतम्यस्तोत्र सानुवाद ... ५-/
५६. शिवताण्डवस्तोत्रं सानुवाद ... ५-००
५७. मुक्ति सोपान ... ५-००
५८. मानस सूक्ति सुधा ... १०-००
५९. शिवमहिम्न. स्तोत्र सान्वय व्याख्या सहित १०-००
६०. वैदिक दशशान्तिमन्त्र सानुवाद ... ५-००
६१. संक्षेप शारीरक परीक्षाब्धि संतरणी ... ४०-००
६२ अष्टोत्तरशतन्यायमाला ... २०-००
६३. पाणिनीयाष्टाध्यायी ललिता टीका ... १००-००
६४. शङ्कर वचनामृतम् सानुवाद ५-००

विशेष सूचना—पुस्तक मँगाने वाले सज्जन अग्रिम राशि निम्नांकित कार्यालय में भेजकर मँगावें। पुस्तक के मूल्यातिरिक्त डाक, रेलवे तथा पोस्टेज व्यय पृथक् लगेगा, वी. पी. द्वारा पुस्तक भेजने का क्रम नहीं है।

ओडियो वीडियो कैसेटों के लिए प्रधान कार्यालय में सम्पर्क करें।

मुख्य कार्यालय—श्रीकैलास आश्रम ऋषिकेश (उ० प्र०)
पिन. २४९२०१, दूरभाष: (०१३५) ४३०५९८।

कैलासविद्या प्रकाशन, श्री कैलास आश्रम, ऋषिकेश (उ० प्र०)।

पाणिनीय–प्रशस्तिः

आचार्यमहामण्डलेश्वरेण कैलासपीठाधीश्वरेण
श्रीमत्स्वामिना विद्यानन्दगिरिणा विरचिता ।

अष्टाध्यायी मया दृष्टा यल्लब्धं फलमीप्सितम् ।
तच्छक्यं नहि केनापि प्राप्तुं तद्दर्शनं विना ॥१॥

अष्टाध्यायीमदृष्ट्वा च योऽन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
वृथैव जीवनं यातं तस्य हा हन्त मन्मतम् ॥२॥

तस्मादग्रे न कर्तव्यमित्थं कैश्चिच्च पण्डितैः ।
नो चेत् स्वस्य च स्वीयानां वृथा यास्यति जीवनम् ॥३॥

पाणिनीयरहस्यं चेज्ज्ञातुमिच्छति यो नरः ।
अवश्यं तेन द्रष्टव्यः पाणिन्युक्तमहोदधिः ॥४॥

शङ्का बोभूयते यस्मात् सूत्रस्यार्थोऽतियत्नतः ।
न कर्तुं शक्यते कैश्चिद्विस्मरद्वृत्तिभिर्नरैः ॥५॥

कौमुदी यदि कण्ठस्था वृथा भाष्ये परिश्रमः ।
अनेन वचसा येन ह्यार्षग्रन्थोऽवहेलितः ॥६॥

प्रत्यक्षं तत्फलं लब्धं तेन प्रेत्यापि लप्स्यते ।
यथा स्वरापराधेति नेदुर्भाष्ये च तत्कृतः ॥७॥

नागेशादिमहाभट्टैः सादरं पाणिनिक्रमम् ।
गृहीत्वा लब्धपाण्डित्यैर्नैपुण्यं चित्रकारकम् ॥८॥

प्राप्तमद्यापि नाग्राहि यैश्च स्वीयप्रमादतः । ।
क्रमस्तेषां कृते चिन्ता भूरिशो मे हृदिस्थिता ॥९॥

तस्मात्पण्डितवर्याणामन्तिके चातिसादरम् ।
कायेन मनसा वाचा ज्ञापनेयं समर्पिता ॥१०॥

गर्वादिकं परित्यज्य श्रूयतां सादरं वचः ।
पाणिनीयक्रमत्यागो भारतीयैरसाम्प्रतम् ॥११॥

भो ! भो ! विद्यार्थिनः ? सर्वैः श्रोतव्यं खलु मद्वचः ।
वारमेकं समाधीत्य सूत्राणि पाणिनिक्रमात् ॥१२॥

अध्येतव्यं प्रयत्नेन सादरं कौमुदीत्रिकम् ।
नाग्रहो मे यतः पश्चादस्ति तत्र कथञ्चन ॥१३॥

सप्तद्वीपपृथिव्याञ्च पारं शब्दमहोदधेः ।
गन्तुमिच्छन्ति चेत् केचित् गम्यतां तैर्यथा-
सुखम् ॥१४॥

विद्यानन्दस्य वाञ्छा चेद्विस्तृते शब्दसागरे ।
पाणिनिक्रमिकां नौकामारुह्य यान्ति नो भयम् ॥१५॥

निगमशास्त्रमुखे निहितं फलं,
ऋषिविनिर्मितरीतिविभूषितम् ।
त्रिमुनिवंशपरम्परयागतं,
पठत भाष्यसमन्वितसूत्रकम् ॥१६॥

इति पाणिनिप्रशस्तिः समाप्तिं गता ।

Screenshots of the digitised Indian Heritage Sights for the ambitious global online museum, an initiative by Google

es more
e sites

y will play a transforming truly Digital ing Indian ritage online portant role in ion a reality. contributions l Institute has gard," said and culture h Sharma. tions have nt of online

content to over 2,000 new images and 70 virtual exhibits, the company said in a statement.

"Google is committed to preserving and breathing life into cultural treasures around the world. India is brimming with a wealth of art, heritage and history. It's been our privilege to help iconic Indian institutions bring rich collections online, using the power of technology," said Rajan Anandan, VP and MD, Google South East Asia and India.

> It's been a privilege to help iconic Indian institutions bring rich collections online
>
> Rajan Anandan, VP and MD, Google South East Asia/India

The collection also includes 26 new virtual tours of famous sites such as the Ekattarso Mahadeva Temple and the Royal Saloon, that was once part of the Palace on Wheels – captured using Google's Street View tech.

Also, in an effort to make the content even more accessible, Dastkaari Haat Samiti, Devi Art Foundation, Heritage Transport Museum and Kalakriti Archives are launching mobile apps built by the Cultural Institute to showcase their exhibits.

"Our mission is to make world heritage accessible for global audiences, and to preserve it digitally for generations to come. By bringing India's rich heritage online, we hope to introduce people across the globe to the fascinating world of Indian culture, history, and art," said Amit Sood, director, Google Cultural Institute.

IANS

Word of the day: freemale

(noun) An independent, modern woman who is happy living a fulfilling single life

Usage: The number of freemales has shot up in India in last few years.

esontv

First
Who
ion 4
ne
g
s and
ne

1835 The Equalizer
2100 Space Station 76
0000 Zombieland

STAR MOVIES
0930 Baby's Day Out
1130 Fantastic Four: Rise of the Silver Surfer
1330 The Last Stand
1530 Spider-Man 3
1830 Need for Speed
2100 Alien 3
2300 The Incredibles
0130 Angels & Demons

SET MAX
1000 Once Upon A Time In Mumbai Dobara
1300 Dhoom
1700 Bhavani - The Tiger
2100 Krrish 3

STAR GOLD
0825 Fukrey
1125 Nigahen
1415 Jaani Dushman
1710 Ayan Vidhwansak The Destroyer
2000 Betting Raja
2230 Kismat
0115 Phir Wohi Raat

ZEE CINEMA
0845 Ek Vardaan Nagina
1147 Krantiveer
1519 Mumbai Ki Kiran Bedi

1821 Yoddha No 1
2100 Laadla
0000 Yeh Hai Jalsa

ZEE STUDIO
0810 Aeon Flux
1000 Mission Impossible
1220 Sniper 3
1415 The Italian Job
1635 Congo
1840 Lara Croft: Tomb Raider
2100 Kung Fu Panda 2
2250 Eagle Eye

mustwatchonTV

THE AMAZING RACE

As the race continues in Italy, Brendon and Rachel put everyone in a shock by U-Turning Dave and Connor

htcitysudoku

	7							8
			1	5				
	9		4			6	5	
	4	5		8			1	
	3		6		5		4	
	8			2		3	6	
	5	3			1		7	
				7	6			
7							2	

dilse

Dear Unknown Girl, I saw you in a crowded bus, just have to tell you that you are the one pretty girl I ever seen in my life. you are very cute, beautiful and sweet. I like you very much but I cannot came to talk with you as I was a stranger for you. I dont know exactly from where you are but If you will meet me in future I will propose you ... and you please accept my proposal. Be mine! forever!

-Yours love

Hey Vinny, It's being 2 years we are together, but you